विवेक-शिखा
श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी
वर्ष–१७
अगस्त–१९९८
अंक–८

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

१५५. श्री विजय कुमार मल्लिक—मुजफ्फरपुर
१५६. श्रीमती गिरिजा देवी—बखरिया (बिहार)
१५७, श्री अशोक कौशिक-मालवीय नगर, (नई दिल्ली)
१५८. रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ—देवघर (बिहार)
१५९. श्री रामकृष्ण साधना कुटीर, खण्डवा (म० प्र०)
१६०, श्रीमती आभा रानाडे, अहमदाबाद (म० प्र०)
१६१. श्री डी० एन० थानवी, जोधपुर (राजस्थान)
१६२. श्री सोहन लाल यादव, नाहर कटिया (आ०)
१६३ डा० (श्रीमती) रेखा अग्रवाल, शाहजहाँपुर (उ प्र.)
१६४. डॉ० (श्रीमती) सुनीला मल्लिक—नई दिल्ली
१६५. श्रीरामकृष्ण संस्कृतिपीठ, कामठी (नागपुर)
१६६. कुमारी जसवीर कौर आहूजा, पटियाला, पंजाब
१६७. श्रीमती मंजुला बोर्दिया, उदयपुर (राजस्थान)
१६८, श्रीमती सुदेश, अम्बाला शहर (हरयाणा)
१६९. डॉ० अजय खन्ना (बरेली उ० प्र०)
१७०. श्री एस० टी पुराणिक—नागपुर
१७१. श्री धन्नालाल अमृतलाल सोलंकी, कलवानी
१७२. डॉ० कमलाकांत, वड़ोदा (गुजरात)
१७३. डॉ० विनया पेण्डसे, उदयपुर (राजस्थान)
१७४. सन्तोष बोनी, रामवन (जम्मू एवं कश्मीर)
१७५. श्री राजीभाई बी० पटेल, सूरत (गुजरात)
१७६. श्री प्रकाश देवपुरा—उदयपुर (राजस्थान)
१७७. श्री एस० के० मुन्दरा, जामनगर (गुजरात)
१७८. डॉ० मोहन बन्सल, आनन्द (गुजरात)
१७९. अड़किया कन्सलटेन्ट्स, प्रालि० मुम्बई
१८०. सुश्री एस० पी० त्रिवेदी—राजकोट (गुजरात)
१८१. अद्वैत आश्रम, मायावती—(उ० प्र०)
१८२. श्री शत्रुघ्न शर्मा, फतेहाबाद—(बिहार)
१८३. रामकृष्ण मिशन, शिलांग—(मेघालय)
१८४. श्री त्रिभुवन महतो, राँची—(बिहार)
१८५. रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची—(बिहार)
१८६. श्री आर० के० चोपड़ा, इलाहाबाद—(उ० प्र०)
१८७. श्री श्यामनन्दन सिंह, राँची -(बिहार)
१८८. श्री डी० आर० साहू, रायपुर—(म० प्र०)
१८९. रामकृष्ण मिशन स्कूल, नरोत्तमनगर (अरुणाचल प्र०)
१९०. रामकृष्ण मिशन हॉस्पिटल, इटानगर (अरु० प्र०)
१९१. रामकृष्ण मिशन स्कूल, अलाँग (अरु० प्र०)
१९२. श्री घनश्याम चन्द्राकर, औंधी (म० प्र०)
१९३. श्री भास्कर मढ़रिया, भिलाई (म० प्र०)
१९४. स्वामी चिरन्तनानन्द, रा.कृ.मि. नरोत्तमनगर (अ.प्र.)
१९५. श्री हरवंश लाल पहडा, जम्मूतवी (कश्मीर)
१९६. श्री योगेश कुमार जिन्दल, विवेक बिहार (दिल्ली)

इस अंक में

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किये बिना विश्राम मत लो ।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१७ | अगस्त—१९९८ | अंक—८

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'।।

सम्पादक :

डा० केदारनाथ लाभ

सहायक सम्पादक :

ब्रजमोहन प्रसाद सिन्हा
शिशिर कुमार मल्लिक

सम्पादकीय कार्यालय :

विवेक शिखा
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर
छपरा—८४१३०१
(बिहार)
फोन : ०६१५२-२२६३९

सहयोग राशि :

आजीवन सदस्य— ७०० रु०
वार्षिक— ५० रु०
रजिस्टर्ड डाक से ६५ रु०
एक प्रति— ५ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्री रामकृष्ण ने कहा है

(१)

सब काम करना चाहिए परन्तु मन ईश्वर में रखना चाहिए। माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि सब के साथ रहते हुए सब की सेवा करनी चाहिए परन्तु मन में इस ज्ञान को दृढ़ रखना चाहिए कि ये हमारे कोई नहीं हैं।

(२)

देखो, निर्जन में ही ईश्वर का चिन्तन करने से यह मन भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का अधिकारी होता है। इस मन को यदि संसार में डाल रखोगे तो यह नीच हो जायगा। संसार में कामिनी-कांचन के चिन्तन के सिवा और है ही क्या ?

(३)

यदि भक्ति पाने की इच्छा हो तो निर्जन में रहना होगा। मक्खन खाने की इच्छा हो, तो दही निर्जन में ही जमाया जाता है। हिलाने-डुलाने से दही नहीं जमता। इसके बाद निर्जन में ही सब काम छोड़कर दही मथा जाता है, तभी मक्खन निकलता है।

(४)

ईश्वर की ओर कोई जितना ही बढ़ता है, उतनी ही शान्ति मिलती है। शान्तिः शान्तिः शान्तिः प्रशान्तिः। गंगा के निकट जितना ही जाया जाता है, उतना ही शीतलता का अनुभव होता जाता है। नहाने पर और भी शान्ति मिलती है।

मन सदा ईश्वर पर रखना। पहले कुछ मेहनत करनी पड़ेगी; फिर पेन्शन पा जाओगे।

अर्जुनोक्त-श्रीकृष्णस्तोत्र

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति, सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ १

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम, त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ २

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः, प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते, नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं, सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं, हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ५

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहार शय्यासन भोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ६

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्य प्रतिम प्रभाव ॥ ७

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं, प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः, प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ८

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा, भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देवरूपं, प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ९

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन, सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ १०

(श्रीमद्भगवद्गीता ११/३६-४६)

अग्नि-मंत्र

(आलसिंगा पेरूमल को लिखित)

संयुक्त राज्य अमेरिका, १८९४

प्रिय आलसिंगा,

एक पुरानी कहानी सुनो। एक निकम्मे भिखमंगे ने सड़क पर चलते-चलते एक वृद्ध को अपने मकान के द्वार पर बैठा देखकर रुककर उससे पूछा, "अमुक ग्राम कितनी दूर है ?" बुड्ढा चुप रहा। भिखमंगे ने कई बार प्रश्न किया, परन्तु उत्तर न मिला। अन्त में जब वह उकताकर वापस जाने लगा, तब बुड्ढे ने खड़े होकर कहा, "वह ग्राम यहाँ से एक मील है।" भिखमंगा कहने लगा, "जब मैंने तुमसे पहली बार पूछा था, तब तुमने क्यों नहीं बताया ?" बुड्ढे ने उत्तर दिया, "क्योंकि पहले तुमने जाने के लिए लापरवाही दिखायी थी और दुविधा में मालूम होते थे; परन्तु अब तुम उत्साहपूर्वक आगे बढ़ रहे हो, इसलिए अब तुम उत्तर पाने के अधिकारी हो गये हो।"

क्या तुम यह कहानी याद रखोगे मेरे बच्चे ? काम आरम्भ करो, शेष सब कुछ आप ही आप हो जायेगा। अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्। (गीता ९/२२)—"जो सब कुछ त्यागकर अनन्य भाव से चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य-समाहित व्यक्तियों का योगक्षेम मैं वहन करता हूँ।"—यह भगवान की वाणी है, कवि-कल्पना नहीं।

बीच-बीच में मैं तुम्हारे पास कुछ रकम भेजता जाऊँगा, क्योंकि पहले कलकत्ते में भी मुझे कुछ रकम भेजनी पड़ेगी—मद्रास की अपेक्षा अधिक भेजनी पड़ेगी। वहाँ का कार्य मुझ पर ही निर्भर है। वहाँ कार्य केवल शुरू ही हुआ हो, ऐसी बात नहीं, बल्कि तीव्र गति से अग्रसर हो रहा है। उसे पहले देखना होगा। साथ ही कलकत्ते की अपेक्षा मद्रास में सहायता मिलने की आशा अधिक है। मेरी इच्छा है कि ये दोनों केन्द्र आपस में मिल-जुलकर काम करें। अभी शुरू-शुरू में पूजा-पाठ, प्रचार आदि के रूप में कार्य आरम्भ कर देना चाहिए। सभी के मिलने के लिए एक स्थान चुन लो एवं प्रति सप्ताह वहाँ इकट्ठे होकर पूजा करो, साथ ही भाष्य सहित उपनिषद् पढ़ो; इस तरह धीरे धीरे काम और अध्ययन, दोनों करते जाओ। तत्परता से काम में लगे रहने पर सब ठीक हो जायेगा।

अब काम में लग जाओ। जी॰जी॰ का स्वभाव भावप्रधान है, तुम समबुद्धि के हो, इसलिए दोनों मिल-जुलकर काम करो। काम में लीन हो जाओ—अभी तो काम आरम्भ ही हुआ है। प्रत्येक राष्ट्र को अपनी रक्षा स्वयं करनी होगी; हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान के लिए अमेरिका की पूँजी पर भरोसा मत करो, क्योंकि वह एक भ्रम ही है। मैसूर एवं रामनाड़ के राजा तथा दूसरे और लोगों को भी इस कार्य में सहानुभूति हो, ऐसा प्रयत्न करो। भट्टाचार्य के साथ परामर्श करके कार्य आरम्भ कर दो। केन्द्र बना सकना बहुत ही उत्तम बात होगी।

मद्रास जैसे बड़े शहर में इसके लिए स्थान प्राप्त करने का यत्न करो और संजीवनी शक्ति का चारों ओर प्रसार करते जाओ। धीरे-धीरे आरम्भ करो। पहले गृहस्थ प्रचारकों से श्रीगणेश करो, धीरे-धीरे वे लोग भी आयेंगे, जो इस काम के लिए अपना जीवन अर्पित कर देंगे। शासक बनने की कोशिश मत करो—सबसे अच्छा शासक वह है, जो सबकी सेवा कर सकता है। मृत्युपर्यन्त सत्य पथ से विचलित न होओ। हम काम चाहते हैं। हमें धन, नाम और यश की चाह नहीं। कार्यारम्भ इतना सुन्दर हुआ है कि यदि इस समय तुम लोग कुछ न कर सके, तो तुम लोगों पर मेरा बिल्कुल विश्वास नहीं रहेगा। अपने कार्य का प्रारम्भ अति सुन्दर हुआ है। भरोसा रखो। जी० जी० को अपनी गृहस्थी के भरण-पोषण के लिए कुछ करना तो नहीं पड़ता, फिर मद्रास में एक स्थायी स्थान का प्रबन्ध करने के लिए वह चन्दा इकट्ठा क्यों नहीं करता? मद्रास में केन्द्र स्थापित करने के लिए जनता में रुचि पैदा करो और कार्य प्रारम्भ कर दो। शुरू में प्रति सप्ताह एकत्र होकर स्तोत्र-पाठ, शास्त्र-पाठ आदि से प्रारम्भ करो। पूर्णत: नि:स्वार्थ बनो, फिर सफलता अवश्यम्भावी है।

अपने कार्य की स्वाधीनता रखते हुए कलकत्ते के अपने श्रेष्ठ जनों के प्रति सम्पूर्ण श्रद्धा-भक्ति रखना।

मेरी सन्तानों को आवश्यकता पड़ने पर एवं अपने कार्य की सिद्धि के लिए आग में कूदने को भी तैयार हो जाना चाहिए। इस समय केवल काम, काम, काम! बाद में किसी समय काम स्थगित कर किसने कितना किया है, यह देखेंगे। धैर्य, अध्यवसाय और पवित्रता बनाये रखो।

मैं अभी हिन्दू धर्म पर कोई पुस्तक नहीं लिख रहा हूँ। मैं केवल अपने विचारों को स्मरणार्थ लिख लेता हूँ। मुझे मालूम नहीं कि मैं उन्हें कभी प्रकाशित कराऊँगा या नहीं। किताबों में क्या धरा है? दुनिया पहले ही बहुत-सी मूर्खताओं से भरी पड़ी है। यदि तुम वेदान्त के आधार पर एक पत्रिका निकाल सको, तो हमारे कार्य में सहायता मिलेगी। चुपचाप काम करो, दूसरों में दोष न निकालो। अपना सन्देश दो, जो कुछ तुम्हें सिखाना है, सिखाओ और वहीं तक सीमित रहो। शेष परमात्मा जानते हैं।

मिशनरी लोगों को यहाँ कौन पूछता है? बहुत चिल्लाने के बाद वे लोग अब चुप हुए हैं। मुझे और समाचारपत्र न भेजो, क्योंकि मैं उनकी निन्दा की ओर ध्यान नहीं देता। इसी वजह से यहाँ मेरे बारे में लोगों की अच्छी धारणा है।

कार्य के अग्रसर होने के लिए कुछ शोर-गुल होने की आवश्कता थी, वह बहुत हो चुका। देखते नहीं, दूसरे लोग बिना किसी भित्ति के ही कैसे अग्रसर कर रहे हैं? और इतने सुन्दर तरीके से तुम लोगों का कार्य आरम्भ हुआ है कि यदि तुम लोग कुछ न कर सके, तो मुझे घोर निराशा होगी। यदि तुम सचमुच मेरी सन्तान हो, तो तुम किसी वस्तु से नहीं डरोगे, न किसी बात पर रुकोगे। तुम सिंहतुल्य होगे। हमें भारत को और पूरे संसार को जगाना है। कायरता को पास न आने दो। मैं नाहीं न सुनूँगा, समझे? मृत्युपर्यन्त सत्य पथ पर अटल रहकर मेरे कथनानुसार कार्यरत रहना होगा, फिर कार्यसिद्धि अवश्यम्भावी है। इसका रहस्य है गुरु-भक्ति, मृत्युपर्यन्त गुरु पर विश्वास; क्या यह तुममें है? मेरा पूर्ण विश्वास है कि यह तुम्हें है। और तुम्हें यह भी विदित है कि मुझे तुम पर पूरा भरोसा है इसलिए काम में लग जाओ। सिद्धि अवश्यम्भावी है। तुम्हें पग-पग पर मेरा आशीर्वाद है; मेरी प्रार्थना सदैव

तुम्हारे साथ रहेगी। मेल से काम करो। हर एक के प्रति सहनशील रहो। सभी से मुझे प्रेम है। सदैव मेरी दृष्टि तुम पर है। आगे बढ़ो! आगे बढ़ो! अभी तो आरम्भ ही है। तुम जानते हो न कि मेरे यहाँ थोड़े से काम की भारत में बड़ी गूँज सुनायी दे रही है? इसीलिए मैं यहाँ से जल्दी नहीं लौटूँगा। मेरा विचार स्थायी रूप से यहाँ कुछ कर जाने का है, और इस लक्ष्य को अपने आगे रखकर मैं प्रतिदिन काम कर रहा हूँ। दिन-प्रति-दिन अमेरिकावासियों का मैं विश्वासपात्र बनता जा रहा हूँ। अपने हृदय और आशाओं को संसार के समान विस्तीर्ण कर दो। संस्कृत का अध्ययन करो, विशेकर वेदान्त के तीनों भाष्यों का। तैयार रहो, क्योंकि भविष्य के लिए मेरे पास बहुत सी योजनाएँ हैं। आकर्षक वक्ता बनने का प्रयत्न करो। लोगों में चेतना का संचार करो। मुझे कुछ काम करके दिखाओ—एक मन्दिर, एक प्रेस, एक पत्रिका या हम लोगों के लिये एक मकान। यदि मद्रास में ठहरने के लिए एक मकान का प्रबन्ध न कर सके, तो फिर मैं वहाँ कहाँ रहूँगा? लोगों में बिजली भर दो! चन्दा इकट्ठा करो एवं प्रचार करो। अपने जीवन के ध्येय पर दृढ़ रहो। अभी तक जो कार्य हुआ है, बहुत अच्छा हुआ है, इसी तरह और भी अच्छे कार्य और उससे भी अच्छे कार्य करते हुए आगे बढ़े चलो। मेरा विश्वास है कि इस पत्र के उत्तर में तुम लिखोगे कि तुमने कुछ काम किया है।

लोगों से लड़ाई न करो; किसी से वैरभाव मोल न लो। यदि नथ्थू-खैरे जैसे लोग ईसाई बनते हैं, तो हम क्यों बुरा मानें? जो धर्म उन्हें अपने मन के अनुकूल जान पड़े, उसका अनुगामी उन्हें बनने दो। तुम्हें वाद-विवाद में पड़ने से क्या मतलब? लोगों के भिन्न-भिन्न मतों को सहन करो। अन्ततोगत्वा धैर्य, पवित्रता एवं अध्यवसाय की जीत होगी।

तुम्हारा
विवेकानन्द

विचारों का महत्व

विचार ही हमारी कार्य-प्रवृत्ति के नियामक हैं। मन को सर्वोच्च विचारों से भर लो, दिन-पर-दिन यही सब भाव सुनते रहो, मास-पर-मास इसी का चिन्तन करो। पहले पहल सफलता न भी मिले; पर कोई हानि नहीं, यह असफलता तो बिल्कुल स्वाभाविक है, यह मानव-जीवन का सौंदर्य है। इन असफलताओं के बिना जीवन क्या होता? यदि जीवन में इस असफलता को जय करने की चेष्टा न रहती, तो जीवन धारण करने का कोई प्रयोजन ही न रह जाता। उनके न रहने पर जीवन का कवित्व कहाँ रहता?

—स्वामी विवेकानन्द

धर्म और धर्म जीवन

—स्वामी गंभीरानन्द

[जमशेदपुर (बिहार) रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द सोसाइटी में उपस्थित भक्तों के तीन प्रश्नों के उत्तर में परमपूज्यपाद महाराज जी की यह चर्चा है। महाराज तब रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के अन्यतम उपाध्यक्ष थे। विषय वस्तु का वर्ष एवं तिथि ज्ञात नहीं हो सकी है। उद्बोधन मई ९८ संख्या से अनूदित है। अनुवादक हैं—रामकृष्ण मिशन, नरोत्तमनगर में कार्यरत स्वामी चिरन्तनानन्द।]

किसी ने प्रश्न किया है, कर्मयोग और कर्मजीवन—इन दोनों में मिलन किस प्रकार संभव है? बड़ा कठिन प्रश्न है यह। आप लोग गृहस्थ हैं। आप लोगों को कर्म करना होता है। मैं साधु हूँ। हम लोगों को भी काम काज करना होता है; दस प्रकार के लोगों से मिलना पड़ता है, फलतः आप लोगों की समस्या अथवा मनोभावों को एकदम ही नहीं समझ सकता ऐसी बात नहीं है।

आप लोग कहेंगे कि संसार में रहने के लिए भी तो मिथ्या बातें बोलनी पड़ती हैं। इसे छोड़कर तो हमारा संसार चलेगा नहीं। अब इसका क्या होगा? संसार में रहने के लिए मात्र मिथ्या बातें ही क्यों और भी बहुत कुछ करना पड़ता है। बात यह नहीं है। बात है कि—मैं भगवान को पाना चाहता हूँ। किस उपाय से पा सकता हूँ, मार्ग कैसा है—इसे ही जानना होगा।

श्रीरामकृष्ण कहते थे, भगवान की ओर एक कदम आगे बढ़ने से, वे एक सौ कदम आगे बढ़ते हैं। कहते, कि 'पाप-पाप' सब समय जो सोचता है, वह पापी ही हो जाता है। उन्होंने यहाँ तक कहा है—अभिनय करने में भी पापी का 'पार्ट' नहीं करना चाहिए। और कहते हैं, झूठ बात कहनी पड़ी—बैठे-बैठे सारा दिन क्या यही सोचते रहूँगा? नहीं, भगवान से कहूँगा कि, हे भगवान ऐसी मुसीबत में पड़ गया हूँ, मेरी रक्षा करो, मेरा उद्धार करो जिससे फिर से यह बात मुझे न कहनी पड़े, इस मार्ग से न चलना पड़े, इत्यादि। असल में हम लोगों को जप-ध्यान की मात्रा बढ़ा देनी होगी। उनका चिन्तन और अधिक मात्रा में करना होगा। इन्हीं बातों का प्रयोजन है। फिर यह भी ठीक नहीं है कि, जो सांसारिक उन्नति चाहते हैं, उन्हें झूठ बोलना ही पड़ेगा। यह भी नहीं कि धर्मजीवन यापन करने के लिए रुपयों-पैसों की ओर नजर नहीं रहती और संसार में मिथ्या बात कहनी पड़ेगी यह भी ठीक नहीं लगती। एक-आध बार कभी-कभी हो सकता है जीभ फिसल जाने से बात निकल पड़े अथवा बोलना पड़ा पर उस तरफ इतनी नजर नहीं देना है, नजर देना होगा भगवान की ओर, मैं उसकी ओर कितना आगे बढ़ा हूँ।

अब देखते हैं कर्मयोग क्या है? कर्मयोग की परिभाषा देना, समझाना बड़ा कठिन है। स्वामीजी ने 'कर्मयोग' के सम्बन्ध में चर्चा की है जो पुस्तकाकार में प्रकाशित हुई है। आप

लोग सरलता से वह पढ़ सकते हैं। हमारे शास्त्रों में यज्ञादि जिन सब कर्मों की बातें कही गई हैं उन सब को 'स्वधर्म' कहा जाता था। 'स्वधर्म' माने क्या ? जैसे ब्राह्मण का एक धर्म है। वे पूजा-पाठ यजन-याजन इत्यादि करेंगे। क्षत्रियों का एक धर्म है, वे युद्ध करेंगे, नारी की रक्षा करेंगे, ब्राह्मण की रक्षा करेंगे, धर्म की रक्षा करेंगे, न्याय की रक्षा करेंगे। यह उनका धर्म है। उसी प्रकार वैश्य का एक स्वधर्म है। शूद्र का एक स्वधर्म है। शास्त्रों ने कहा है, सभी अपने-अपने धर्म का पालन करें एवं धर्मपालन करने से जो फल प्राप्ति हो उसे भगवान को अर्पण कर दें। यह हुआ संक्षेप में कर्मयोग की तत्व कथा। गीता में भगवान ने कहा है।

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
(९/२७)

—हे अर्जुन, जो कुछ भी करो, जो कुछ आहार करो, यज्ञ में जो कुछ आहुति प्रदान करो, जो कुछ दान करो एवं जो तपस्या करो सब कुछ मुझे समर्पण कर दो।

इसके बाद स्वामीजी ने एक नवीन तत्व का योग किया। जो पहले था उसी कर्मयोग के साथ और एक मात्रा युक्त कर दी। जिसका नाम उन्होंने दिया 'व्यावहारिक वेदान्त' अथवा 'Practical Vedanta'। पहले के कर्मयोग एवं इस कर्मयोग में अन्तर कहाँ पर है ? श्रीराम-कृष्ण ने कहा है, 'प्रतिमा में ईश्वर की पूजा होती है और जीवन्त मनुष्य में क्या नहीं होगी ?'' (श्री श्री रामकृष्ण वचनामृत) मैं यदि पत्थर से, लकड़ी से अथवा मिट्टी से प्रतिमा तैयार कर पूजा कर सकता हूँ तो फिर मनुष्य के हृदय में जो भगवान मौजूद है—प्रत्येक प्राणी के हृदय में जो भगवान हैं, उस भगवान की भी तो मैं पूजा कर सकता हूँ। मतलब यह कि हम जब सांसारिक हैं तब संसार के साथ एक सम्पर्क तो रखना ही होगा। और मैं यदि एक दार्शनिक मतवाद खड़ा करूँ कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और जगत् मिथ्या है; मिथ्या यानि—जगत् नहीं है; तब फिर तुम खड़े कहाँ पर हो ? खाओ-पीओ, अस्वस्थ होने से छटपटाया करो, डाक्टर बुलाने के लिए व्यग्र हो जाओ—यह सब स्वीकार करते हो, और कहते हो जगत् मिथ्या ? श्रीरामकृष्ण कहते हैं, जबतक शरीर बोध है, 'मैं' बोध है तब तक मानना होगा जगत् विद्यमान है। जगत् को मिथ्या नहीं कहा जाएगा। जब तक जगत् के साथ मेरा एक सम्बन्ध बना हुआ है तब तक जगत् की निंदा करना मुझे शोभा नहीं देगा। तब क्या जगत् के साथ शत्रुता करूँ ? नहीं, माँ ने कहा है, "कोई पराया नहीं है, जगत् तुम्हारा अपना है।" जैसे ठाकुर ने (श्रीरामकृष्ण ने) कहा है, सम्पूर्ण जगत एक ही आधार पर गढ़ा हुआ है। भगवान का शरीर अथवा भगवान का शरीर ही हुआ यह जगत्। उनके साथ मेरा सम्बन्ध होगा प्यार-स्नेह का सम्बन्ध, भक्ति का सम्बन्ध, प्रेम का सम्बन्ध। जगत् के साथ शत्रुता करना, उसे 'नहीं' है कहकर अस्वीकार कर देना कोई अच्छी बात नहीं है। ठाकुर उस रास्ते से नहीं गये। श्री श्री माँ एवं ठाकुर के शिष्यों ने जगत् को स्वीकार किया है। जगत् के साथ उन लोगों का प्रीति-स्नेह का संबंध था। हमलोग इस जगत् के साथ उसी प्रकार का एक संबंध स्थापित कर कर्मयोग का अभ्यास कर सकते हैं।

पहले के कर्मयोग में कर्म मानो एक अलग विषय था। भगवान के लिए मैं कर्म कर रहा हूँ। तब तो भगवान कर्म से अलग होकर रह गये। मैं कर्म कर रहा हूँ, मैं एक अलग व्यक्ति होकर रह गया। मुझे अभिमान है कि मैं कर्म

रहा हूँ। और स्वामीजी जिस पथ का सन्धान दे गये हैं, जिसे उन्होंने ठाकुर के निकट प्राप्त किया था—वह हुआ यह कि मैं दूसरे के लिए कर्म नहीं कर रहा हूँ। वह आत्म-परिजनों के लिए ही हो अथवा बाहर के दस व्यक्तियों के लिए—वे प्रत्येक ही भगवान के विभिन्न रूप हैं। तब तो उनकी सेवा का अर्थ ही भगवान की पूजा है। साक्षात् भगवान मेरी पूजा ग्रहण कर रहे हैं, अतः फल फिर किसको अर्पण करूंगा? उनकी जब सेवा की, उनकी जब पूजा की, भक्तिभाव से उनके साथ संबंध स्थापित किया तब तो साथ-ही-साथ सब फल उनको अर्पण करना हो ही गया, फिर किसे क्या देना बाकी रह गया?

'मैं' बोध जहाँ पर है—वहाँ हम कहेंगे 'कर्म'। शंकराचार्य के भाष्य में यही बात है। जहाँ अभिमान, 'मैं' विद्यमान है—'मैं' कर्त्ता, 'मेरा' यह कार्य है, 'मेरा' यह फल है, वहाँ कहूँगा 'कर्म'। और 'मैं कर्त्ता' अथवा 'मुझे फल प्राप्त होगा'—यह बोध नहीं हैं, 'मेरा कार्य'—यह कर्त्तव्य बुद्धि नहीं है, भगवान मुझसे करवा रहे हैं इसलिए किए जा रहा हूँ—यह बुद्धि जहाँ विद्यमान है, वहाँ अभिमान का स्थान नहीं है। उसे स्वामी जी ने कहा है, "उस कर्म को मैं 'कर्म' नहीं मानता, वह ज्ञान का ही एक रूप है।" स्वामीजी इस 'Practical Vedanta'—की बात, इस कर्मयोग की बात इस युग में विशेषकर हम लोगों से कहकर गये हैं।

सम्पूर्ण जगत् को इसी प्रकार भगवानमय देखना। श्रीरामकृष्ण के जीवन में इसका उदाहरण हम पाते हैं। जैसे, मणि मल्लिक की बालविधवा कन्या नन्दिनी ने एक दिन ठाकुर से कहा था, "मैं जब भगवान के ध्यान में बैठती हूँ तो भगवान की ओर मन जाता नहीं।" ठाकुर ने पूछा, "मन कहाँ जाता है?" नन्दिनी ने कहा "मेरा जो भतीजा है, उसका चेहरा मेरी आँखों के सामने आ जाता है।" ठाकुर ने कहा, "यह तो अच्छा है, अब से उसे ही तुम गोपाल मान लो।" नन्दिनी ने वैसा ही करना आरम्भ किया एवं इससे उसे विशेष फल प्राप्त भी हुआ।

गोपाल की माँ के बारे में तो हम सबने ही पढ़ा है। उन्होंने बालगोपाल का चिन्तन करके उनका दर्शन किया था। वस्तुतः, भगवान-दृष्टि से सभी कार्य करने से हमारा कर्म-जीवन ही एक पूजा के रूप में परिणत हो जाएगा। मैं ऑफिस जाकर एक अलग व्यक्ति बन गया, घर वापस आकर और एक व्यक्ति बन गया, फिर खेल के मैदान में जाकर एक दूसरा व्यक्ति बन गया, ऐसा तो नहीं होता। मैं जो हूँ वही हूँ। मैं ही तो सर्वत्र रह रहा हूँ, केवल मेरे कर्मक्षेत्र अलग हैं। उसी प्रकार सभी कार्य करूंगा परन्तु सभी कार्य के भीतर 'वे' रहेंगे, तब सभी कार्य उनके कार्य हो जाएँगे। मेरा 'कार्य' तब 'पूजा' बन जाएगा।

हम लोगों ने श्रीरामकृष्ण के जीवन में देखा है—एक अंग्रेज साहब का लड़का पेड़ के नीचे त्रिभंग होकर खड़ा है, देखकर तुरन्त उनको श्रीकृष्ण की याद आ गई। श्रीरामकृष्ण ने उसे साहब का लड़का नहीं देखा, देखा श्रीकृष्ण के रूप में। और एक दिन वे गाड़ी में बैठकर रास्ते से होकर जा रहे हैं। शराब की दूकान में शराबी लोग बहुत मौज-मस्ती-मजा कर रहे हैं। वे ऐसे ही गाड़ी के बाहर आ गए। पावदानी पर पैर रखकर कह रहे हैं, "वाह, बहुत आनन्द हो रहा है!" किसका आनन्द? शराब का आनन्द नहीं, वहाँ वे देख रहे हैं भगवत् आनन्द। उसका ही स्फुरण उनके भीतर हो रहा है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् को, समस्त कर्म को भगवत्मय किया जा सकता है। यही पथ

श्रीरामकृष्ण दिखा गये हैं, स्वामीजी दिखा गए हैं, श्री श्री माँ दिखा गयी हैं। यह कर्मयोग का ही एक रूप अथवा कर्मयोग से और थोड़ा आगे जाकर और एक पथ है—जिस पथ को सभी स्वीकार कर सकते हैं।

प्रसंग "नवाबी अमल का सिक्का बादशाही अमल में नहीं चलता।"

बहुत लोग पूछते हैं, ठाकुर कहते, "नवाबी अमल का सिक्का बादशाही अमल में नहीं चलता।" (श्री श्रीरामकृष्ण-लीला प्रसंग) इस कथन का क्या अर्थ है ?

इस कथन का अर्थ यह है कि मुझे यदि अभी कहा जाय—वैदिक युग के यज्ञादि मुझे करना होगा, वह क्या मैं कर सकूंगा ? वह तो असंभव है। आजकल ब्राह्मण हो अथवा अब्राह्मण, जीविका के लिए सभी को इधर-उधर भागना पड़ता है। क्या नौकरी कर रहा हूँ, किसके लिए कर रहा हूँ—इतना सोचने की फुरसत नहीं है। जहाँ कहीं भी काम मिल जाने से ही हो गया, जिससे अधिक-से-अधिक उपार्जन हो, उस तरफ ही नजर रहती है। इस समय मैं वैदिक यज्ञादि किससे करवाऊंगा ? ब्राह्मण खोजने से कहाँ मिलेगा ? सब तो भूल-भालकर बैठे हुए हैं ! उन दिनों शास्त्रों का अर्थ हमने एक ढंग से किया था। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—

"ये यथा माम् प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।"
(४/११)

—जो जिस भाव से मेरी आराधना करता है, मैं उस पर उसी भाव से अनुग्रह करता हूँ। श्रीकृष्ण ने यह बात किस अवस्था में प्रतिष्ठित होकर कही। उन्होंने अर्जुन के सखा के रूप में यह बात नहीं कही, कहीं 'मैं भगवान' इस ज्ञान के साथ। अर्थात् भगवान को जो जिस भाव से ही देखे, भगवान उस पर उसी भाव से कृपा करते हैं। शास्त्रों ने क्या किया ? वे शिव को भूल गये, शक्ति को भूल गये, दूसरे सब देवदेवियों को भुलकर एकमात्र श्रीकृष्ण को खड़ा कर दिया। एकमात्र श्रीकृष्ण को जिस भाव से ही पूजा क्यों न करे, श्रीकृष्ण उस पर कृपा करेंगे।—यही धारणा हुई 'नवाबी अमल का सिक्का'। यह अब श्रीरामकृष्ण युग में नहीं चलेगा। श्रीरामकृष्ण ने जब कहा, "जितने मत उतने पथ" उस समय पूरे संसार में अनेक मत एवं पथ थे। श्रीकृष्ण के समय क्या इतने मत-पथ थे ? नहीं थे। श्रीरामकृष्ण ने सभी धर्मों की साधना की है, देखा है—सभी धर्मों के माध्यम से भगवान को पाया जाता है। तब उन्होंने घोषणा की—"जितने मत उतने पथ।" इसीलिए आज सबको यह मान लेना पड़ रहा है—यह हुआ 'बादशाही अमल का सिक्का'।

श्रीरामकृष्ण गिरिश बाबू से कहते हैं, भगवान का नाम लेना। गिरिश बाबू ने कहा, महाशय, भगवान का नाम लूंगा कब ? अच्छा, सवेरे-शाम करना। गिरिश बाबू ने कहा, मेरे सबेरे-शाम का भी ठीक नहीं है। तब ठाकुर ने कहा, तब फिर तुम मुझे बकलमा दे दे।

हम लोगों को भी अत्यन्त व्यस्तता के बीच में रहना पड़ता है। रहना पड़ता है अनेक झंझटों के बीच में। यथायोग्य नियमानुसार सबेरे-शाम ध्यान-जप करेंगे वह भी संभव नहीं हो पाता। तब फिर क्या करना होगा ? जब समय मिलेगा—कदाचित ऑफिस का काम करते-करते पाँच मिनिट समय मिल गया, भगवान का थोड़ा नाम स्मरण कर लिया। टिफिन खाने के समय यदि थोड़ा समय मिल गया—थोड़ा नाम-चिन्तन कर लिया। इसी तरह जब जिस प्रकार संभव हो भगवान का चिन्तन करना ही हुई असल

बात। जप-ध्यान अथवा स्मरण-मनन कितनी देर तक, किस ढंग से किया यह बड़ी बात नहीं है। इन्हीं सब बातों को विचारकर ही ठाकुर ने कहा था, पुराने जमाने का सिक्का आज के युग में नहीं चलता। अर्थात् प्राचीन काल के जितने आचार-विचार—जो धर्म के नाम पर उस समय प्रचलित थे, उसे मैं खराब नहीं कह रहा हूं, हो सकता है सब अच्छा ही था किन्तु आज, अब वह और संभव नहीं है। आज यदि यह उपदेश दिया जाय कि, बारह वर्ष ब्रह्मचर्य अवलम्बन करो, फिर बारह वर्ष गुरुगृह वास करो, फिर तुम और बारह वर्ष तपस्या करो, तब तो फिर सब हो गया! किसी के लिए आज ऐसा करना संभव नहीं है। शरीर समर्थ नहीं होगा, रुपया-पैसा पर्याप्त नहीं होगा मन नहीं मानेगा, समय नहीं मिलेगा। तपस्या के लिए स्थान भी नहीं है। साधुओं ने खोज-खाजकर ऋषिकेश को साधना के लिए तैयार किया। अब ऋषिकेश शहर बन गया है। साधुगण धीरे-धीरे और भी ऊपर पर्वत की चोटी पर—उत्तरकाशी में पहुँच गये। और अब उत्तरकाशी हो गया जिला शहर। फलतः उस युग के समान आचार-अनुष्ठान करना इस युग में संभव नहीं है। अर्थात् नवाबी अमल का सिक्का अब और चलता नहीं। हमें साधना की धारा में परिवर्तन करना पड़ रहा है, एक मोड़ देना पड़ रहा है। वचनामृत में, स्वामीजी के साहित्य में वे लोग दिखा गए हैं कि किस प्रकार उसे स्थापित करना होगा।

प्रसंग "आक्रामक साधुता"
("Aggressive Goodness")

यदि कोई ठाकुर—स्वामीजी की निन्दा करे तो भक्त होने के कारण हम लोगों को कैसा आचरण करना उचित है?

सचमुच ही यह हुआ प्रश्न के जैसा प्रश्न। इस सम्बन्ध में ठाकुर के जीवन में दो दृष्टान्त उपलब्ध हैं। प्रथम है—योगीन महाराज ने (स्वामी योगानन्द) दक्षिणेश्वर में ठाकुर की निन्दा सुनी थी। सुनकर स्वाभाविक ही उनके मन में अत्यन्त कष्ट हुआ। ठाकुर के पास आकर उनसे इस घटना को दुःखित मन से बताया। उन्होंने सुनकर कहा, "बिना कारण मेरी निन्दा की गई, तू उसे चुपचाप सुनकर आ गया न! शास्त्र में क्या है जानते हो—गुरु निंदक का सिर काट कर फेंक देना अथवा उस स्थान का परित्याग करना। तूने मिथ्या प्रचार का कुछ भी प्रतिवाद नहीं किया?" (श्री श्रीरामकृष्ण भक्त-मालिका) योगीन महाराज शान्त स्वभाव के थे। पुनः एक दिन निरंजन महाराज (स्वामी निरंजनानन्द) नौका में बैठकर दक्षिणेश्वर आ रहे थे। नौका पर कुछ लोग ठाकुर की निन्दा कर रहे थे। उग्रस्वभाव के निरंजन महाराज तत्क्षणात् उग्रमूर्ति धारणकर नौका डुबाकर प्रतिशोध लेने के लिए तैयार हो गये। सुनकर ठाकुर ने कहा; "हीन बुद्धि लोग कितनी-कुछ अनुचित बात करते हैं, उसे लेकर ही वाद-विवाद, तर्क-कुतर्क करने पर उसमें ही सारा जीवन कट जाता है। क्रोध के वश में होकर तुम कैसे अन्याय करने को उद्यत हो गये थे, सोचो तो जरा—मल्लाहों ने तुम्हारा क्या अपराध किया था कि उन गरीबों के ऊपर भी अत्याचार करने पर उतारू हो गये थे।" (भक्तमालिका) ठाकुर की दो बातें दो तरह की, इन बातों को मिलाकर हमें कुछ करना होगा। क्या कर सकते हैं? यदि निन्दक को उत्तर देने लायक है, तो ठाकुर की इन दो कथनों को मिलाकर एक उत्तर देना होगा। बोलना होगा, आप ने क्या 'वचनामृत' पढ़ा है; 'लीलाप्रसंग' क्या पढ़ा है? किस आधार पर आप ये सब बातें कह

रहे हैं ? क्या कुछ भी बोल देने से हो गया !—इन बातों को जोर देकर बोलना होगा। यदि इतनी फुरसत नहीं है, अबूझ व्यक्ति है, कुछ बोलने से भी कोई लाभ नहीं है तब उस-स्थान का त्याग कर देना। अर्थात् स्वयं की बुद्धि लगाकर कुछ-न-कुछ करना होगा, किन्तु श्रद्धा-भक्ति की जिससे हानि न हो; ठाकुर के प्रति भाव-भक्ति अविचल बनी रहे एवं संभव होने पर दूसरों को श्रीरामकृष्ण के आदर्श में ले आने की चेष्टा करनी होगी। इसे छोड़कर कोई साधारण एवं सहज 'फार्मूला' देना सम्भव नहीं है।

अनुवादक—स्वामी चिरन्तनानन्द
रामकृष्ण मिशन, नरोत्तमनगर

●

आध्यात्मिक जीवन का मर्म

'आध्यात्मिक प्रश्नोत्तरी'

—श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द
परमाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ, बेलुड़मठ

आमुख :

आधुनिक युग में भौतिक जीवन की सुख-सुविधाओं में विपुल विकास हुआ है। किन्तु उसके साथ-ही-साथ दैनंदिन जीवन में विभिन्न प्रकार की समस्याएँ भी हमारे समक्ष उठ खड़ी हुई हैं। परिणामस्वरूप आमोद-प्रमोद के लिए अनेक साधन सहज-सुगम होने पर भी मनुष्य सुख-चैन का अभाव एवं पीड़ा की भावना का अनुभव करता है।

क्या पूर्व में क्या पश्चिम में अनेक स्थलों में सुख-दुःख की गुणवत्ता में स्वाभाविक अन्तर होने पर भी जीवन की यह विकट परिस्थिति एक सामान ही हो ऐसा महसूस होता है। भले ही हम विकसित और अविकसित राष्ट्रों, श्रीमंत और गरीब देशों के सम्बन्ध में चर्चा करें, लेकिन सर्वत्र एक ही दुर्दशा देखने को मिलती है। साधन सम्पन्न देशों में लोगों के लिए पर्याप्त मात्रा में धन संपत्ति और जीवन की आवश्यक चीजें उपलब्ध हैं, तो भी वे लोग सुखी नहीं है। दूसरी ओर हमारे देश में गरीबी की रेखा के भी नीचे अनेक लोग जीवन बिताते हैं; उनके पास सामान्य वस्त्र-अन्न जैसी साधारण-सी आवश्यक चीजें भी नहीं हैं, रहने के लिए छोटा-सा घर भी नहीं है।

हमारे देशवासियों की उलझाने वाली समस्याओं में मुख्य रूप में अन्न, वस्त्र, आवास, शिक्षा एवं अर्थ उपार्जन की समस्याएँ हैं। हमारे देश में, जो तुलना में साधन सम्पन्न हैं, उन देशों के नैतिक मूल्यों में और प्राचीन ग्रन्थों में उद्‌बोधित किया गया है उस सत्य में से विश्वास घटता जा रहा है। किन्तु जीवन में आवश्यक दृढ़ता, स्थिरता के लिए तो इन मूल्यों का संरक्षण आवश्यक है ही। इन साधन सम्पन्न (वर्ग के) लोगों के लिए नीतिमत्ता, आध्यात्म और संस्कृति के मूल्यों का अभाव ही मुख्य समस्या है।

हमें उलझानेवाली समस्याओं का मूल कारण

कौन-सा है ? किस दिशा में आगे कदम उठाएँ, इस विषय में अनिश्चितता होने से ही ये प्रश्न-उपस्थित हुए हैं। समग्र जगत् में मानव जाति में, उसमें भी खासकर के युवा पीढ़ी में, जीवन में कोई निश्चित ध्येय न होने के कारण अनेक युवक हिप्पी बनने, असामाजिक बन जाने, आदि विचित्र नुस्खे अजमाते हैं। लेकिन समाज उन्हें स्वीकार नहीं कर सकता, अथवा वे भी सामाजिक जीवन में एकरूप बन नहीं सकते। प्रत्येक व्यक्ति, जीवन की एक ईकाई है। समाज अर्थात् सभी व्यक्तिरूप ईकाइयों का योग। इसलिए ही व्यक्ति रूप इकाई में जो विषम अनिष्ठ विद्यमान हैं, वे समग्र समाज-शरीर पर असर करते हैं। इसलिए आज के विश्व में अशांति, दुःख, पीड़ा अनेक स्थलों में दिखाई देती हैं।

तो फिर कौन-सा उद्देश्य लक्षित करके हमें पुरुषार्थ करना चाहिए ? एक बात हम समझ लें; बाह्य जगत में सुख की आशा निरर्थक है। सुख, शांति, आनन्द एवं पूर्णता इत्यादि हममें पहले से ही विद्यमान हैं। प्रत्येक मनुष्य में दिव्य सत्ता, आत्मा रही है। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में,— "हमारे अस्तित्व में कुछ मुक्त शाश्वत तत्त्व निहित हैं। परन्तु वह शरीर नहीं है, मन भी नहीं है, भौतिक जड़ पदार्थ के आवरण के उस पार, मन के सूक्ष्म आवरण के भी उस पार मनुष्य की आत्मा है, वह नित्य है। नित्यानन्द और शाश्वत शांति सम्पूर्ण मुक्ति की अवस्था में ही प्राप्त हो सकती है। जब तक मानव इन्द्रियों का गुलाम है, तब तक उसे सच्चा सुख प्राप्त नहीं हो सकता। मनुष्य उसके अज्ञान के बंधन से बद्ध है। अपनी स्वतन्त्रता उसने गंवा दी है, इसलिए ही मनुष्य का लक्ष्य अज्ञान से मुक्ति होना चाहिए ! "प्रत्येक मनुष्य में दिव्यता निहित है; ध्येय है—इस दिव्यता की अभिव्यक्ति।" आंतरिक दिव्यता की अभिव्यक्ति के साथ-साथ सच्ची शांति, सच्चे सुख और दुःख के बन्धन से मुक्ति आकर मिलती है। उस ध्येय के लिए हम सब प्रयत्नशील हों; ध्येयलक्षी पुरुषार्थ करें।

इसके बाद के पृष्ठों में इन विचारों की विशद् चर्चा हमें देखने को मिलेगी।

स्वामी भूतेशानन्द

आध्यात्मिक प्रश्नोत्तरी

[श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने १९९५ में अपने राजकोट आगमन के अवसर पर भक्तों के साथ वार्त्तालाप के प्रसंग में प्रश्नों के जो उत्तर दिये थे, उनका सारांश प्रस्तुत यहाँ हैं। प्रस्तुति : प्रो० कुमारी निरुपमा एम० रावल द्वारा]

प्रश्न—मन को निर्विचार कैसे करें ? अत्यन्त चेष्टा करने पर भी मन निर्विचार नहीं होता।

अथवा,

उपासना के समय मानसिक विचारों या वासना के विचारों को कैसे रोकें ?

उत्तर—मन किसी ने हम पर लाद दिया हो ऐसा तो नहीं है। अपने विचार निजी जीवन शैली आदि से मन की प्रकृति बनती है। मन विषयों की ओर हमेशा गमन करता है। मन को विषयों से रोका नहीं जाता। उसे विषयों से अलग करने का अभ्यास करते-करते तुम्हारी आकांक्षाएँ पूर्ण होंगी। अभ्यास अर्थात् बार-बार प्रयत्न करते रहिए तो धीरे-धीरे मन शुद्ध होगा। इसके सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं है। मन, वह तुम्हारी प्रकृति का रूप है। उस प्रकृति को तुम सतत अभ्यास से ही बदल सकते हो। वर्ना मन को कैसे शुद्ध करें, यह तो महत्वपूर्ण प्रश्न है। मन में अशुद्धि को प्रविष्ट न होने दें। स्वामी तुरीयानन्द जी कहते थे—

"जब ध्यान में बैठो तब मन के द्वार पर लिख दो," 'No Admission'। आप कहेंगे यह किस प्रकार

करें ? मन का प्रवेश द्वार कहाँ है ? कैसे लिखें ? ये सभी सवाल उठ खड़े हों तो स्वामी तुरीयानन्द जी का जीवन पढ़ना। उन्होंने बचपन से सिवा भगवद् भक्ति के दूसरा कुछ सीखा ही नहीं था। उनका पूरा जीवन ऐसे ही बीता। भगवान रामकृष्णदेव की शरण में आने से पूर्व ही उनका जीवन ऐसा ही था। कड़े परिश्रम से वे ऐसे बने। सभी के लिए यही रीति है। कठोर पुरुषार्थ की— ऐसे दृढ़ प्रयास करने की जरूरत है। यह दृढ़ प्रयास इस हद तक कि जीवन का अन्त भले ही हो, लक्ष्य से च्युत नहीं होना। ऐसा सभी कर सकते हैं; लेकिन इसके लिए तीव्र प्रतीति की, तीव्र विचार की जरूरत है। हमारे अन्दर यह तीव्र प्रतीति—दृढ़ विचार नहीं है। और इस तरह आधे एक ओर, आधे दूसरी ओर—इस प्रकार समय गवाँ देते हैं। इस विषय में हमेशा सचेत रहने की जरूरत है। ऐसा करेंगे तो अधिक गति से ध्येय की प्राप्त कर सकते हो। वही रीति है—अभ्यास, प्रयत्न की। बार-बार इसके लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। ईश्वर कृपा, यह भी पुरुषार्थ का ही फल है। ईश्वर कृपा तो सभी पर होती है। ईश्वर इकतरफा विचार नहीं करता। ईश्वर के प्रति भावुकता के कारण ही मनुष्य ईश्वर कृपा का अनुभव करता है। इसलिए सभी के प्रति ईश्वर की कृपा होने पर भी सभी को कृपा का अनुभव नहीं होता। भगवान श्री रामकृष्णदेव कहते हैं—

"प्रभु की कृपा का पवन तो बहता ही रहता है, तुम पाल को परवान चढ़ाओ तो तुम्हारी नाव आगे बढ़ेगी।" तुम परवान चढ़ाते नहीं इसलिए कृपा का अनुभव नहीं होता। यह बात खास तौर पर याद रखनी चाहिए कि ईश्वर इस संसार की स्थिति में किसी को भी डाल नहीं देता, किन्तु खुद अपना ही संसार बना लेता है और उससे निकलने का उपाय भी वही है।"

श्रीरामकृष्णदेव कहते थे; "मछली पकड़ने के लिए एक जाल होता है। उसमें मछली प्रवेश करती है, अन्दर घुस जाती है। किन्तु जिस रास्ते से वह अन्दर आती है, वही रास्ता खुला है। उसमें से वह बाहर निकल सकती है, किन्तु बाहर जाने का पता न होने से अन्दर ही घूमा करती है।"

इस प्रकार हमारी भी वही स्थिति है। ईश्वर ने हमें संसार में डाल दिया है, ऐसा नहीं है, हमने ही इसमें प्रवेश किया है। ऐसी धारणा से ही निकलने का मार्ग मिलता है। लेकिन हमारे प्रयत्न अपूर्ण हैं। इसलिए हमारा समय निरर्थक व्यतीत होता है। प्रभु को लक्ष्य कर जीवन को स्थिर बनाना नहीं होता। इसलिए इसके लिए अथक प्रयत्न जरूरी है, यही मार्ग है।

प्रश्न—भगवान श्री रामकृष्ण अवतरित हुए फिर भी आज सौ वर्ष के बाद भी मानव जीवन में उसका असर जितना होना चाहिए, उतना क्यों नहीं दिखाई देता ? इसका कारण क्या हो सकता है ?

उत्तर—आध्यात्मिक जीवन के लिए सिर्फ कुछ लोग आग्रह रख सकते हैं और जो आग्रह रखते हैं इनमें से बहुत कम कदाचित ही उस रास्ते चलने का प्रयास करते है। और जो प्रयास करते हैं उसमें भी कदाचित ही, एकाध ही लक्ष्य तक पहुँच सकता है। प्राचीनकाल से इस प्रकार ही चला आ रहा है। गीता जी में कहा है :

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।।
गीता ७·३

अर्थात् हजारों मनुष्यों में कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करता है और उन यत्न

करनेवाले योगियों में भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मेरे को तत्व से जानता है।

यह गीता जी की बात तो बर्षों पुरानी है। आध्यात्मिक जीवन के बारे में उपनिषद में भी ऐसा कहा गया है। भगवान श्रीरामचन्द्र, भगवान श्रीकृष्ण, भगवान बुद्ध कितने आये हैं, फिर भी स्वामी जी के कथनानुसार जगत मानो कुत्ते की पूँछ हैं; उसे सीधी करने का प्रयत्न करोगे तो वह उस समय-तक सीधी रहेगी, लेकिन छोड़ देने पर फिर से टेढ़ी हो जायेगी। इसलिए ही भगवान बार-बार आते हैं; कि जिससे संसार में बार-बार सुधार हो। वर्ना भगवान को बार-बार संसार में अवतार धारण करने की जरूरत ही क्यों होती? उन्नति हो जायेगी ऐसी आशा निरर्थक है। फिर भी भगवान ने सब कुछ निरर्थक है, ऐसा सोचकर आना बंद नहीं किया है, वे तो आते ही हैं। जो लोग अपने जीवन को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करते हैं। उन लोगों को ऐसे चरित्र प्रोत्साहित करेंगे। वे मनुष्यों का मार्गदर्शन करेंगे। सत् युग में भी असुरों का अभाव नहीं था। इसके बाद त्रेता, द्वापर आदि युग में भी असुर थे। सिर्फ कलियुग में ही अशुद्धि है, दुष्ट लोग इस युग में ही जन्मते हैं, ऐसा नहीं है। प्राचीनकाल से ही भगवान असुर के विनाश के लिए अवतरित होते हैं—ऐसा कहा जाता है कि—

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥"

अर्थात् साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए और दूषित कर्म करनेवालों का नाश करने के लिए तथा धर्म स्थापन करने के लिए युग-युग में भगवान् प्रकट होते हैं।

गीता जी में कहते हैं कि भगवान श्रीकृष्ण आये दुष्टों के विनाश के लिए और साधुओं के रक्षणार्थ, धर्म संस्थापना के लिए आये। अब वे कहाँ हैं? क्या दुनिया का रक्षण पूरा हो चुका? क्या धर्म का रक्षण पूर्ण हो गया है? क्या दुष्ट कृत्यों का सर्वथा विनाश हो चुका है? क्या साधुओं की रक्षा भी सम्पूर्ण रूप से हुई है? आज भी लोगों को कितने ही प्रकार की तकलीफों का सामना करना पड़ता है। आज ही नहीं शुरू से ही, जब से हमें इतिहास जानने को मिलता है, तब से ऐसा ही चला आ रहा है। तब फिर श्रीरामकृष्णदेव आये इसलिए दुनिया बिलकुल ही बदल जाएगी, क्या ऐसा संभव है? और श्रीरामकृष्णदेव इस सम्बन्ध में क्या कहते हैं? कभी भी श्रीरामकृष्णदेव ने दर्शाया नहीं है कि मैं दुनिया के सुधार के लिए कार्य करता हूँ। उनकी दृष्टि से यह भी भगवान लीला है। यदि सभी संत बन जाएँ, सभी धार्मिक बन जाएँ तो, तो संसार में भगवान की लीला बंद हो जाएगी। इसमें अच्छे-बुरे दोनों रहेंगे। यदि सर्वत्र प्रकाश हो, और अंधकार बिलकुल ही न हो तो, प्रकाश का कुछ अनुभव ही न होगा। इसलिए अन्धकार और प्रकाश दोनों की जरूरत है। इसी प्रकार दुनिया में भले-बुरे दोनों का स्थान है।

सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा के दो प्रकार की संतान हैं; देव, असुर। इनमें असुरों की संख्या ज्यादा है। देवों की संख्या कम। इस प्रकार सृष्टि के आदि काल से देवासुर संग्राम चला आ रहा है। श्री रामकृष्ण देव कहते हैं कि—"रामचन्द्र अवतरित हुए थे इसका ज्ञान केवल १२ (बारह) ऋषियों को ही था। अन्य सभी तो मानते थे कि वे तो दशरथ के पुत्र हैं। यह बात तो देवों को बुद्धि के लिए भी ग्राह्य नहीं। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं:

"अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥"
(गीता ९-११)

अर्थात् 'मनुष्य परमेश्वर को साधारण मानव मानते हैं। उनके सच्चे स्वरूप को पहचानते नहीं। तब फिर भगवान ने इतनी बार अवतार धारण किया, क्या उसका कोई सनातन फल है भी? जगत अनित्य है और अवतार भी आते हैं, जाते हैं। इसलिए जगत में सुधार कायम नहीं हो सकता। यह तो निराशाजनक बात है। ऐसा हो तो हमारे भविष्य का क्या? भविष्य वही कि वे (युगावतार) पुकार कर बुलाते हैं और दो-चार भक्तजन यह पुकार सुनते हैं। इनमें कोई ऐकाध व्यक्ति रस लेते हैं। तो, श्रीरामकृष्णदेव आकर जगत को पलट गए—ऐसा कुछ संभावित नहीं है। श्रीरामकृष्णदेव आए हैं। उनका जीवन हमारे पास है और उसमें से कुछ आदमी प्रेरणा प्राप्त करते हैं। लेकिन अन्य रह जाते हैं। तो फिर क्या होगा? जैसा पहले कहा, वैसे भगवान अवतरित होते ही रहेंगे, हमेशा अवतार लेंगे, और इस जगत में लीला चलती ही रहेगी। मनुष्य में से कुछ लोग ही सुनते हैं, परन्तु बाकी सभी सुनते नहीं हैं, क्योंकि मन शुद्ध नहीं है। सभी मनुष्यों में से कुछ असुर प्रकृति के होते हैं और कुछ कम लोग देव प्रकृति के, किन्तु हम क्या करें? यदि अपने मन में इस बाबत में कुछ रस हो तो हम अपना जीवन बदल लें। जगत को बदलने का जो प्रयास करते हैं, उनके जीवन में दुःख ही होता है। सभी के दर्द को मिटाने के लिए सुश्रूषा करें तो भी सभी रोग क्या मिट सकते हैं? और इसके लिए क्या सुश्रूषा करना बन्द कर सकते हैं? प्रयत्न तो चालू रखना ही चाहिए।

श्रीरामकृष्ण देव कहते थे—जो सुनने के लिए आग्रही हों, उसे आग्रह करके सुनावें। दक्षिणेश्वर में उनकी अन्तिम अवस्था ऐसे ही बिती। ऐसा सुचिभव्य जीवन चरित्र था भी। लेकिन जो लोग उनके साथ दक्षिणेश्वर में रहते थे, दिन-रात पास-पड़ोसी आकर मिलते, इनमें से कितनों ने प्रेरणा ली? श्री रामकृष्णदेव के शिष्यों में से एक थे स्वामी शारदानन्द जी। वे एक दिन भक्तों के साथ बैठे थे; और सद्भाग्य कि मैं भी वहीं था, लेकिन तब मैं छोटा था। इसलिए मैं चुपचाप बैठा रहता। दूसरे जो कुछ कहते सुनता रहता था। एक भक्त आये, उन्होंने शारदानन्द जी से कहा कि मैं साधुसंग करने के लिए आया हूँ। तो सारदानंद ने कहा कि भगवान श्री रामकृष्णदेव स्वयं दक्षिणेश्वर में बिराजमान थे और उनके पास-पड़ोसी भी कई बार आकर मिलते थे। और दक्षिणेश्वर के पुजारी लोग, कर्मचारी दिन-रात वहीं उनके साथ रहते थे, लेकिन उन लोगों के जीवन में कुछ उन्नति दिखती नहीं। इसलिए साधुओं के समीप रहना ही पर्याप्त नहीं है। भगवान श्रीकृष्ण आये उनके साथ शिशुपाल, जरासंघ आदि शत्रु थे ही न? प्राचीन काल में श्रीकृष्ण से भी पूर्व जैसा मैंने कहा उपनिषद के युग में भी ऐसी ही स्थिति थी।

यदि हम ऐसा मान लें कि 'दुनिया को बदल देंगे, तो श्रीरामकृष्ण देव का कहना है कि यह तो अभिमान कहलायेगा। भगवान खुद जो न कर सके उसे 'हम मानें तो हम कर पायेंगे।' ऐसा कभी हो सकता है? फिर भी प्रकृति के अनुसार मनुष्य को प्रयास करना ही पड़ता है। दूसरा कोई उपाय नहीं है। सन्तजन सर्वदा सभी मनुष्यों का कल्याण करते रहेंगे और दूसरे दुष्ट प्रकृति के मनुष्य उस भगवान के प्रयास को निरर्थक करने के प्रयास करेंगे।

प्रश्न—जैसे-जसे आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे दुःख बढ़ता जाता है, मुसीबतें बढ़ती हैं, इसका कारण क्या हो सकता है?

उत्तर—साधना के मार्ग में—आध्यात्मिक मार्ग में कसौटियों का अन्त नहीं होता। यह मार्ग

सीधा-सरल तो है नहीं। इसलिए उस रास्ते पर चलने का जिसमें साहस हो, वही मुसीबतों का सामना करके भी उस पर चलते हैं। दूसरों के लिए यह मार्ग नहीं है। दूसरों के लिए इससे अधिक सरल संसार का मार्ग है। भगवान के मार्ग में तो अतिशय आँसू बहाने पड़ते हैं। बिना तड़प के भगवान के पास पहुँच नहीं सकते। भक्तों के जीवन में क्या दिखाई देता है? वे सभी रोते हुए ही भगवान के पास पहुँचे हैं। हँसते हुए कितने गए हैं? भगवान के पास जाने का रास्ता त्याग और बलिदान का है, दूसरा कोई रास्ता है ही नहीं। ससार में भी कोई कीमती चीज बिना मूल्य चुकाये मिलती है क्या?

हम सुनते हैं कि भगवान तो दयालु है। वह कृपा करके भक्त को दर्शन देता है। लेकिन वह कृपा होती है कब? और इसके लिए कितना पसीना बहाना पड़ता है, यह सोचना चाहिए। किसी भी भक्तजन का जीवन देखने से पता चलता है कि यही एक मार्ग है, इसी पर वे चले हैं। इसीलिए यह सहने की शक्ति और साहस तो इस मार्ग पर जानेवालों को बटोरना ही पड़ेगा।

यदि ये न हों तो उस रास्ते पर पैर रखना ही नहीं। भगवान के मार्ग में विघ्न एवं आपत्ति तो आयेगी ही। इसके सिवा कोई चारा नहीं है। प्रारम्भ में ही लोग कहने लगते हैं कि "भगवान को कहिए न, वह सबकुछ सरल कर देंगे।" लेकिन हकीकत में इस मार्ग पर चलना कितनों के लिए संभावित है? प्रथम दृष्टि से सरल लगे, तो भी कितने लोगों के लिए संभावित है?

वृन्दावन में गोपियों का उदाहरण देखिए। गोपियों को तो पूरा जीवन रोते-रोते ही बिताना पड़ता है। शुरू से लेकर भगवान ने वृन्दावन त्यागा तब तक न? वृन्दावन को छोड़ने के बाद भगवान क्या कभी वापस आये भी! कभी भी नहीं! लगता है भगवान कितने निष्ठुर हैं! गोपियाँ भगवान के प्रति अतिशय प्रेम रखती थीं इसमें तो सन्देह है ही नहीं। फिर भी गोपियों को एक बात का अतिशय दुःख होता है कि इतना सारा प्यार करने पर भी भगवान कुछ मूल्य तो चुकाते नहीं। इसलिए जब भगवान रास मंच पर से अदृश्य हो गए तब गोपियों ने चारों ओर खूब ढूंढ़ा। जब थक गईं तब 'अब बहुत हुआ', ऐसा लगते ही भगवान ने उन्हें दर्शन दिये। तब गोपियों ने भगवान से एक प्रश्न किया था; 'सच्चा प्रेमी कैसा होता है? उसका व्यवहार कैसा होता है? हे कृष्ण! कितने प्रेमी ऐसे होते हैं, जो दूसरे द्वारा किए गये प्रेम के बदले में अपना प्रेम प्रदान करते हैं? दूसरे प्रकार के ऐसे प्रेमी कितने होते है, जो खुद प्रेम करते हैं, लेकिन बदले की कामना नहीं रखते। तीसरे प्रकार के निष्ठुर प्रेमी ऐसे होते है, प्रेम रखनेवालों के ऊपर भी प्रेम नहीं रखते और चौथे प्रकार के प्रेमी, प्रेम करनेवालों या न करनेवालों दोनों के प्रति सहजभाव से प्रेम रखता है। इस प्रकार चार प्रकार के प्रेमी होते हैं। इतना कह कर गोपियाँ तो चुप हो गईं। तब भगवान ने उनका उत्तर दिया, "हे गोपियों, तुमने जो चार प्रकार के प्रेमी गिनाये इनमें से एक भी प्रकार का प्रेमी मैं नहीं हूँ! प्रेम के बदले में प्रेम देनेवाला व्यापारी हुआ। उसे प्रेमी नहीं कहते। प्रेम न देनेवाले को प्रेम दे, उसे वत्सल कहा जायेगा, प्रेमी नहीं। संतान के प्रेम की बिना परवाह किये माता-पिता सन्तानों को प्रेम देते हैं। मैं ऐसा प्रेमी भी नहीं हूँ। प्रेम करनेवाले को न करनेवाला - निष्ठुर प्रेमी भी मैं नहीं हूँ। प्रेम करनेवाले या न करनेवाले दोनों पर स्वाभाविक रीति से प्रेम करनेवाला भी प्रेमी मैं नहीं हूँ; क्योंकि ऐसा तो योगी होता है! मैं वह भी नहीं हूँ। गोपियों ने पूछा, तो फिर आप हैं क्या? तब भगवान ने कहा, "देखो, मैं जो तुम्हें

दुःख देता हूँ, उसका एक अर्थ है। तुम में इस प्रकार अवरोध होने से ही तुम्हारा प्रेम बढ़ता रहेगा। तुम्हारा यह प्रेम बढ़ाने के लिए ही मैंने तुम्हारे मार्ग में कठिनाई दी है। ('श्रीमद् भागवतः' दशम् स्कन्ध, अध्याय ३२)

अब आप समझ सकेंगे। अध्यात्म मार्ग के सभी प्रयास करनेवालों पर यह बात लागू होती है। भगवान की ओर जाने का मार्ग अतिशय कठिन है ही। उपनिषद में दर्शाया है :

"क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्यया
दुर्गपथस्तत्कवयो वदन्ति।"

(कठोपनिषदः ३।३।३४

ज्ञानी जन कहते हैं कि, यह मार्ग उस्तरे की धार जैसा और न चल सकें ऐसा है।" चलते हुए पैर कट जाए, फिर भी जो आदमी साहस करके इस पर चले, तभी रास्ता पार कर सकता है। मार्ग दुर्गम है, 'सुगम' नहीं है। किन्तु भगवान इतनी मूल्यवान वस्तु हैं कि चाहे जितना भी कष्ट हो फिर भी भक्त उस मार्ग पर बिना चले रह ही नहीं सकता। उसके अन्तःकरण में जो आकर्षण है, वही उसे उस रास्ते पर अनिवार्य रूप से ले जाता है। चाहे कितना ही दुःख क्यों न हो, इसमें आश्चर्य ही नहीं। भगवत्प्राप्ति आनन्दमय ही है। उस आनन्द की दृष्टि से वह दुःख तो उसे तुच्छ ही लगता है, ऐसा ही समझना चाहिए। वस्तु का मोल तो चुकाना ही पड़ता है न? दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है। (क्रमश)

□

चिन्तन

सौजन्य की कसौटी

—स्वामी आत्मानन्द

मैं एक दिन कार द्वारा इन्दौर से ओंकारेश्वर जा रहा था। मेरे साथ १४-१५ वर्ष का मेरा एक परिचित का लड़का भी था। एक स्थान पर उसने एक सूचना-फलक की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया। उस पर लिखा था—"सौजन्य से सभी खुश रहते हैं।" उस बालक ने मुझसे पूछा—"स्वामीजी, सौजन्य का क्या मतलब ?" मैंने कहा—"सुजनता"।

आपने भी वैसे सूचनाफलक स्थान स्थान पर पढ़े होंगे। मानो सरकार हमें स्मरण दिलाती रहती है कि हम सुजनता न छोड़ें। सौजन्य या सुजनता का मतलब है—"अच्छा व्यवहार"। सौजन्य बेरुखी या रूखेपन का उल्टा है। यदि हम किसी पद पर हैं और कोई हमारे पास अपना एक काम लेकर आया। उसके साथ हम दो प्रकार से व्यवहार कर सकते हैं। एक तो हम उसे बैठने के लिए न कहें और रूखेपन से कहें—तुम्हें क्या चाहिए लिखकर दे दो। दूसरे, उससे कहें—आइए, बैठिए, मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ ? इन दोनों तरीकों में आकाश-पाताल का अन्तर है। एक है रूखापन, तो दूसरा सौजन्य। एक से व्यक्ति क्षुब्ध होकर लौटता है, तो दूसरे से प्रसन्न होकर। एक गाली देता हुआ निन्दा करता है, तो दूसरा प्रशंसा करते नहीं अघाता।

मेरे एक परिचित मंत्री थे। जब लोग उनके पास कोई काम कराने जाते, तो झिड़क देते थे—"पटवारी का काम भी मैं ही करूँगा ?" क्या मैं शाला-निरीक्षक हूँ, जो यह अर्जी मुझे देते

हो ?" मैंने उन्हें सलाह दी—"आप हस्ताक्षर मत दिखाइए, अर्जी लीजिए, कहिए ठीक है, तुम्हारी माँग अगर उचित है तो मैं पटवारी से कहला दूँगा, शाला-निरीक्षक को सन्देशा भिजवा दूँगा।" उन्होंने मुझसे कहा—"क्या यह सरासर झूठा आश्वासन देना न होगा ?"

यह विचारणीय प्रश्न है। सौजन्य का एक यह भी रूप है। मीठी-मीठी बातें करके जो सामने हैं उसे खुश कर देना और उसका काम न करना। प्रश्न यह है कि चिकनी-चुपड़ी बात करके झाँसा देना क्या सौजन्य कहलाएगा ? झूठे आश्वासन देकर किसी को खुश करना क्या सौजन्य है ?

नहीं, यह सौजन्य नहीं है। सौजन्य का तात्पर्य है—दूसरों के प्रति सद्भाव रखते हुए उन्हें सहायता देने की इच्छा, तथा साथ ही एहसान जताने का अभाव। जैसे, कोई मेरे पास किसी काम के लिए आया। यदि मुझसे वह काम न बनता हो, तो मीठी जबान से उसे समझा दूँ कि वह मेरे बस की बात नहीं है। यदि काम उचित न लगता हो तो उसे बता दूँ कि भाई, यह तो मैं नहीं कर सकूँगा। यदि काम उचित हो और मैं उसे किसी प्रकार की मदद दे सकता हूँ, तो उसकी चेष्टा करूँ। यह सौजन्य का सही पक्ष है।

कुछ लोग काम करें या न करें एहसान जताने की कोशिश करते हैं। यह सौजन्य नहीं है। यह भी सौजन्य नहीं कि हमारे पास जो फालतू हो, जिसे हम फेंकना चाहते हों, उसे दूसरे को देकर एहसान जताएँ। जैसे मैंने दो गृहिणियों की बात सुनी। एक दूसरे से कह रही थी—"मेरे घर ऐसा कुछ बचा, जो हम लोग न खा सकते हों, तो हमारे पतिदेव उसे फेंकने के लिए कह देते हैं। उस दिन केले आये, गिल-गिले हो गये। वो तो कह रहे थे कि फेंक दूँ। पर बहन, मैंने तो नौकर को बुलाकर दे दिया, कहा—ले, अपने बच्चों को दे देना। इससे चीज भी काम आ गयी और नौकर पर एहसान भी हो गया।" अब, भले ही ऊपर से यह सौजन्य-सा प्रतीत होता हो, पर सौजन्य नहीं है। वहाँ नौकर के बच्चों के प्रति हित की भावना नहीं है। सौजन्य हमारे भीतर दूसरे के हित की भावना पैदा करता है।

फिर, सौजन्य की कसौटी अपने से उच्च अधिकारियों के प्रति हमारे व्यवहार से नहीं होती। हम उनके प्रति तो सौजन्यवान होते ही हैं, क्योंकि हमें नौकरी जाने का डर होता है, 'सी० आर०' खराब होने का भय लगा रहता है। हमारे सौजन्य की परख वहाँ होती है, जब हम ऐसे लोगों से व्यवहार करते हैं, जिनसे हमें लेना-देना कुछ नहीं है या जो पद-प्रतिष्ठा में हमसे नीचे हैं।

सौजन्य का विरोधी है अधिकार-मद। अधिकार-मद से आक्रान्त व्यक्ति अपने से ऊपर वालों के लिए तो भीगी बिल्ली बना रहता है, पर अपने से नीचे लोगों के लिए शेर। अधिकार-मद एक विचित्र मानसिकता है, एक नशा है, जो मनुष्य की मानवता को दबा देती है और उसके सौजन्य को प्रकट नहीं होने देती। ऐसा व्यक्ति अपनी हेठी से भले ही आत्मसुख का अनुभव करे, पर वह विकृत आत्मसुख है और लोगों की नजरों में वह गिरा हुआ है।

(विवेक ज्योति से साभार)

समाज को चाहिए कृष्ण जैसा कर्मयोगी

—निशलेश

भगवान कृष्ण के उपदेशों की जरूरत आज जीवन के हर क्षेत्र में अंगीकार करने की है, एक ओर घनघोर असन्तोष समाज के हर वर्ग में है, समाज जात-पात, धर्म-संस्कृति के आधार पर हर रोज बंटता दिखाई दे रहा है, ऐसे में दुनिया में नित नये विध्वंस के प्रयोग पर अंकुश हेतु मानव सभ्यता चिंतित है, दूसरी ओर आज के परिवेश में अकर्मण्यता को समाप्त करने हेतु कर्मयोग के प्रोत्साहन की सबसे ज्यादा जरूरत महसूस की जा रही है।

कृष्ण के जन्म एवं मृत्यु के सम्बन्ध में कई किंवदंतियाँ मशहूर हैं किन्तु उनके गीता में वर्णित दर्शन के आधार पर कर्मयोग खासकर निष्काम कर्मयोग की वृहत व्याख्या की गई है।

श्लोक १-२ में अर्जुन संशय की स्थिति में होते हैं तो श्रीकृष्ण ने कर्म एवं ज्ञान के मध्य ज्ञान की श्रेष्ठता स्थापित करने हेतु "तस्मात् युद्धस्व, तस्मात उत्तिष्ठ" आदि कहकर घोर हिंसात्मक कर्म में क्यों लगा रहे, यह अर्जुन की उत्कंठा शांत तब होती है जब वह स्पष्ट कर्मयोग की व्याख्या करते हैं।

कर्मयोग में वैकल्पिक पथों का वर्णन के क्रम में अधिकार की निष्ठा से दो भेद माने गए हैं। शुद्ध अन्तःकरण एवं अशुद्ध अन्तःकरण चित की शुद्धि और अशुद्धि के भेद : जिनके चित शुद्ध हैं उन्हें वर्णाश्रम धर्म के अनुसार उचित कर्मों को करना चाहिए, ऐसे चित वाले प्राणी को नित्य नैमित्तक कर्म नहीं रहता, ऐसे प्राणी को सन्यास की आवश्यकता नहीं है। कोई भी धर्म मानव प्राणियों के कल्याण के लिए है।

अज्ञानी द्वारा कर्मत्याग की भगवान निन्दा करते हैं।

अकर्म से कर्म श्रेष्ठ है, निष्काम कर्म सर्वश्रेष्ठ है। अकर्म से वह जीवन निर्वाह भी नहीं कर सकता है। ऐसे ही लोग राजनीति, संस्कृति, साहित्य एवं समाज को दिग्भ्रमित करके नष्ट कर रहे हैं।

लोग यह सोचते हैं कि अस्पताल, अनाथालय, विधवा गृह आदि व निर्माण निष्काम कर्म है, परन्तु भगवान को यह मान्य नहीं है, क्योंकि यह भी सकाम ही है। इन कर्मों में मान प्रतिष्ठा की तीव्र अभिलाषा रहती है, यदि नहीं हो तब भी वह कर्मफल, त्याग भगवदार्पित नहीं है, इसलिए यह भी पुण्य के रूप में कर्त्ता को बांधता है। यहाँ काम्य कर्म की प्रशंसा असंगत है, फिर भी अकर्म से कर्मश्रेष्ठ है। श्रेष्ठ जन के आचरण का प्रभाव साधारण जन पर पड़ता है, ऐसे लोग दूसरों को भ्रम में नहीं डालते हैं वे कर्म का आदर्श उपस्थित कर अज्ञानियों में ज्ञान का संचार करते हैं तथा निष्काम कर्म हेतु प्रेरित करते हैं, ऐसे प्राणी कभी भी बुद्धि भेद नहीं करवाते हैं, यदि अज्ञानियों को कर्म से मुक्त कर दिया जाय तो वे भटक जायेंगे तथा जीवन के उद्देश्य को कभी भी प्राप्त नहीं कर पायेंगे। उनकी आस्था भगवान एवं विधि सम्मत आदर्शों से खत्म हो जायेगी।

प्रकृति के तीन गुण हैं-सत्व, रजस एवं तमस, उनमें सत्व गुण ज्ञान एवं आनन्द की आशक्ति, रजस गुण अनन्त अतृप्त इच्छाओं एवं तमस गुण मोह एवं आलस्य से प्राणी को कमजोर करने में सहायक सिद्ध होते हैं। उनसे यदि मुक्ति पा ली जाये तो व्यक्ति निष्काम कर्मयोगी हो सकता है।

श्रीकृष्ण गीता में अर्जुन से (३०-३१) कहते हैं कि जो व्यक्ति मेरे आदर्शों को पालन करके कर्म को मुझे समर्पित करते हैं लाभ की आकांक्षा त्यागकर आलस्यहीन होकर इर्ष्या का त्याग कर कर्म करते हैं, वे बन्धन मुक्त हो जाते हैं, जो व्यक्ति राग द्वेष से मुक्त होकर कार्य करते हैं, हैं, प्रकृति उन्हें ऐसा करने के लिए प्रेरित एवं विवश करती है। क्योंकि, प्रकृति अत्यन्त बलवान है, ऐसे में इन्द्रियाँ स्वविवेक छोड़ देती हैं एवं दिग्भ्रमित हो जाती है। इन इन्द्रियों को वशीभूत करने में सिर्फ निष्काम कर्मयोग सहायक हो सकते हैं।

आज के सन्दर्भ में बड़े-बड़े राजनेता, पदाधिकारी एवं समाज के आदर्श नागरिक खुद को निष्काम नहीं कर पाने की वजह से महाघोटालों के दलदल में फंसकर सर्वस्व लुटा बैठे हैं।

स्वयं को कहने का भ्रम एवं स्वयं को पाने की इच्छा ने बड़े-बड़े साम्राज्यों का खात्मा कर दिया है। बड़ी-बड़ी संस्थाएँ कालबलि हो गई, आज कोई भी उन्हें जानने की जरूरत नहीं महसूस करता है। वही मदर टेरेसा जैसी विभूतियों को नश्वर शरीर के कर्मों को आने वाला कल इतिहास के पन्नों में दफन होने से रोकेगा।

आज कृष्ण की कर्मयोग की समाज को सर्वाधिक आवश्यकता है, क्योंकि गीता में भगवान कृष्ण के एक-एक उपदेश बहुत ही समकालीन या यों कहें चिरकालीन हैं। इन्हें धर्म की बेड़ियों से जकड़ने के बजाय वैज्ञानिक एवं सामाजिक परिपेक्ष्य में स्वीकार करने की जरूरत है।

आज की अराजकता को समाप्त करने के लिए समाज को कर्मयोगियों की सबसे ज्यादा आवश्यकता है।

कृष्ण के सिद्धांत प्रायः सभी धर्मों एवं समाज के विधि शास्त्री की पूंजी है। परन्तु आज के संदर्भ में जहाँ कानून, न्याय. धर्म एवं संस्कृति में गिरावट आई है वहीं गीता जैसे ग्रंथ एवं भगवान कृष्ण के व्यक्तित्व की जरूरत बढ़ती जा रही है।

आज हर समाज को कर्मयोगी चाहिए। निष्काम ही तो बड़ी-बड़ी विकृतियों से मुक्ति मिल नकती है।

कृष्ण के कर्मयोग की जरूरत को देखते हुए कई संस्थाओं ने प्रचार-प्रसार के माध्यम से कृष्ण के सिद्धान्त को जन-जन तक पहुँचाने का कार्य प्रारम्भ किया है। ऐसे ही कृष्ण भक्त श्रील प्रभुपाद ने 'इस्कान' की स्थापना की थी। आज सारी दुनिया में यह संस्था अपने संस्थापक श्रील प्रभुपाद की १००वीं वर्षगांठ पूरी कर रही है।

आज जरूरत है सर्वधर्म की, मानव-मानव एकताकी, एक निष्ठा की, विश्व बंधुत्व की, असत्य पर सत्य की, विजय हेतु भगवान श्रीकृष्ण को प्रेरणास्वरूप याद करने की, मानव सभ्यता इसे महसूस करे तो शायद धार्मिक कट्टरपन एवं सामाजिक, सांस्कृतिक, वैचारिक, भेदभाव को हमेशा-हमेशा के लिए खत्म किया जा सकता है। जरूरत है मजबूत इरादे से कृष्ण को आत्मसात् करने की, कृष्ण की जन्माष्टमी में शामिल आत्माओं में निष्काम कर्मयोगी की बीज प्रस्फुटित, अंकुरित करके बटवृक्ष के रूप में तब्दील करने की।

कुण्डलिनी जागरण और आध्यात्मिक विकास

—स्वामी यतीश्वरानन्द

अनुवादक : स्वामी ब्रह्मेशानन्द

देह, मन और आत्मा

आध्यात्मिक विकास के रहस्य को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने वास्तविक स्वरूप तथा चेतना की उन अवस्थाओं से परिचित हों, जिनसे होकर हम जीवन में गुजरते हैं।

स्वरूपतः हम दिव्य, हैं, अर्थात् हमारी वास्तविक आत्मा, ब्रह्म है। यह सत्य-आत्मा अनन्त परमात्मा या ब्रह्म से अभिन्न है। आध्यात्मिक ज्ञान सम्पन्न महापुरुषों का यह अनुभव है। अज्ञान इस वास्तविक स्वरूप को आवरित कर रखता है। अज्ञान के कारण हम यह सोचते हैं कि हम भगवान से पृथक तथा ससीम मर्त्य जीव हैं। अज्ञान एक तेज शराब के समान है। वह व्यक्ति के स्वरूप को विस्मृत करा कर विभ्रम पैदा कर देती है। यह अज्ञान या अविद्या सर्वप्रथम हमारे स्वरूप को आवरित कर देती है, और उसके बाद अनात्मा से हमारा तादात्म्य करा देती है। अविद्या के कारण सत्य आत्मा का देह, इन्द्रियों और मन के साथ तादात्म्य हो जाता है और अहंकार का मिथ्या भ्रम पैदा हो जाता है। परिणामस्वरूप हमें लगता है कि हमारी दो देहें हैं : भौतिक या स्थूल, और मानसिक या सूक्ष्म। आत्मविश्लेषण द्वारा हम पता लगा सकते हैं कि कारण-शरीर कहलाने वाली हमारी एक और सूक्ष्मतर देह है। हमारी वास्तविक आत्मा इन तीनों देहों के परे है।

इसके अतिरिक्त, हम चेतना की तीन अवस्थाओं से बंधे हुए हैं : जाग्रतावस्था, जिसमें चैतन्य का स्थूल देह के साथ तादात्म्य रहता है तथा हमें स्थूल जगत का बोध होता है; स्वप्नावस्था, जिसमें चेतना का सूक्ष्म शरीर के साथ तादात्म्य रहता है, तथा हम मानो-संस्कारों द्वारा निर्मित स्वप्न-जगत् में निवास करते हैं; सुषुप्तावस्था, जिसमें चेतना का कारण शरीर के साथ, तथा कारण-जगत् में तादात्म्य रहता है, तथा जहाँ मन निष्क्रिय रहता है।

मनीषियों का कथन है कि इन तीन अवस्थाओं के परे तुरीय नामक एक अतीन्द्रिय चेतनावस्था है, जिसमें व्यक्ति अपने विशुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप की पुनः उपलब्धि करता है। परन्तु विशुद्ध-चैतन्य की इस उच्चतम अवस्था, जहाँ जीव यह अनुभव करता है कि वह अनन्त परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, की उपलब्धि अचानक नहीं होती। अधिकांश साधकों में यह धीरे-धीरे होता है। अध्यात्म-चेतना की उपलब्धि एक क्रमिक विकास के रूप में होती है। पूर्णतम ज्ञानोदय की उपलब्धि के पूर्व साधक विभिन्न अवस्थाओं से होकर गुजरता है। अब हम इसी आध्यात्मिक विकास का वर्णन करेंगे।

अपनी चेतनावस्था में हमारा स्थूल देह के साथ तादात्म्य रहता है। तब हम अपने को लम्बे या छोटे कद का, युवा या वृद्ध, गोरा या साँवला, समझते हैं। मन के साथ तादात्म्य होने पर हम सुख अथवा दुःख, पीड़ा अथवा आनन्द का अनुभव करते हैं। अहंकार के साथ तादात्म्य होने पर हम "मैं कर्ता हूँ, मैं बद्ध या मुक्त हूँ",

इस तरह सोचते हैं।

हमें अविद्या से छुटकारा पाकर हमारे आध्यात्मिक स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहिये। हम यह इच्छा मात्र से नहीं कर सकते। यदि इच्छाएँ घोड़े होतीं, तो सभी सवारी करते। हमने अपने आपको आत्मविमोहित कर दिया है, अब हमें इस सम्मोहन को दूर करना है। यह कैसे करें? हमें अपनी पुरातन आत्मा का पुनः निर्माण करना है, पुनः प्राप्त करना है।

हमें चिन्तन, भावना और क्रिया की सभी पुरानी बुरी आदतों को नष्ट करना, शुभ नैतिक आदतों का निर्माण करना, तथा अपने विचारों, भावनाओं और क्रियाओं को आध्यात्मिक दिशा प्रदान करना चाहिये। तब हम पवित्र होते हैं।

नैतिक आचरण, प्रार्थना और भगवन्नाम के जप और ध्यान से जब चित्तशुद्ध होता है, तब अन्तर्निरीक्षण की क्षमता का विकास होता है। तब हम अपने भीतर चेतना के विभिन्न केन्द्रों का, योगियों की गुप्त सोपान पंक्ति का, आविष्कार करते हैं, जो चेतना के विभिन्न स्तरों से संयुक्त उतराव-चढाव युक्त एक गुप्त उच्चालक लिफ्ट के समान है। तंत्रों में ये स्तर चक्र कहलाते हैं। हम सभी जानते हैं कि हमारे मनोभावों के परिवर्तन के साथ हमारे विचार, भावनाएँ और क्रियाएँ परिवर्तित होती हैं। इन मनोभावों का चेतना के उन केन्द्रों के साथ कुछ लेना-देना रहता है, जिनके साथ हम किसी समय विशेष में सम्बन्धित रहते हैं।

शोपेनहावर का कथन है कि बालक के युवा होने पर काम उसकी इच्छा का केन्द्र हो जाता है। तब वह काम द्वारा प्रभावित विचारों, भावनाओं और क्रियाओं के एक नये जगत् में जीता है। अत्यधिक क्षुधातुर होने पर हम पेट का अनुभव करते हैं। गंभीर भावनाओं से दोलायमान होने पर हमें हृदय का अनुभव होता है। विचारों के स्पष्ट और विषय प्रबोधक होने पर हम भ्रूमध्य के बिन्दु का अनुभव करते हैं। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं: प्रथम यह कि हमारी चेतना के विभिन्न केंद्र हैं, और द्वितीय, यह कि हम एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र में निरंतर आते-जाते रहते हैं। यहाँ हमने केवल भौतिक केन्द्रों की चर्चा की है। हमारे भौतिक अस्तित्व से सम्बन्धित इन चक्रों के अतिरिक्त आध्यात्मिक बोध के उच्चतर केन्द्र भी हैं। वे नेत्रों द्वारा देखे नहीं जा सकते और सामान्य मन द्वारा समझे भी नहीं जा सकते। ये सूक्ष्म आध्यात्मिक केन्द्र हैं जिन्हें समुन्नत योगी ही पहचान सकते हैं। तंत्र शास्त्रों के अनुसार चेतना के सात केन्द्र हैं, जो चक्र कहलाते हैं।

चेतना के विभिन्न केन्द्रों तथा उनकी क्रियाओं के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा होना आवश्यक है। अतिचेतनावस्था की बातों का वर्णन करते समय हमें बाध्य होकर भौतिक स्तर की भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। 'कुण्डलिनी' का वर्णन करते समय भी यही किया जाता है, यह मानव में प्रसुप्त आध्यात्मिक शक्ति है, जो सर्पेन्ट पावर' या सर्पाकार शक्ति भी कहलाती है। उसकी तुलना कुण्डलाकार सर्प से की जाती है, जो मेरुदंड के मूलाधार में सो रहा है।

इडा-पिंगला, और सुषुम्ना

अपने सृजनात्मक पक्ष में चेतना कुण्डलिनी या कुण्डलाकारा-शक्ति कहलाती है। योग की भाषा में, वह कुण्डली मार कर, रीढ़ के निम्नतम भाग, मूलाधार, में सोई रहती है। आध्यात्मिक-प्रबुद्ध व्यक्ति में यह शक्ति सुषुम्ना नामक आध्यात्मिक मार्ग से प्रवाहित होती है। इस आध्यात्मिक मार्ग या नाड़ी के साथ इडा और पिंगला नामक दो और मार्ग या नाड़ियाँ रहती

हैं। ऐसा कहा जाता है कि ये रीढ़ के बाँयी और दाँयी ओर तथा सुषुम्ना मध्य में रहती है। निम्नतम अथवा मूलाधार चक्र में जुड़ी हुई तीन नाड़ियों की कल्पना करो। मध्यवर्ती नाड़ी आध्यात्मिक है, जबकि अन्य दो मानव के सामान्य भौतिक और मानसिक जीवन से सम्बन्धित हैं। एक सामान्य मानव में इन नाड़ियों के मिलन स्थल में संचित होने वाली शक्ति केवल दोनों ओर वाली दो नाड़ियों से होकर प्रवाहित होती है, बीच वाली नाड़ी से नहीं। अतः सारी शक्ति का दिशा परिवर्तित हो जाती है, और वह सामान्य सांसारिक चिन्तन, भावनाओं और क्रियाओं में ही अभिव्यक्त होती है।

प्रत्येक चक्र व्यष्टि और समष्टि, व्यक्ति और विराट के बीच चेतना के उस स्तर विशेष के सम्पर्क का बिन्दु होता है। नीचे के तीन चक्रों का सम्बन्ध, खान-पान, इंद्रिय सुख तथा काम सुख आदि, मानव के पशु जीवन से रहता है। मानव का प्रथम आध्यात्मिक जागरण उस समय होता है, जब उसकी चेतना हृदय चक्र तक उन्नत होती है। यहाँ वह अपनी आत्मा का आविष्कार करता है।

चेतना के इन केन्द्रों का वर्णन कभी-कभी भौतिक स्नायु समूहों तथा उनसे संयुक्त ग्रन्थियों के रूप में किया जाता है। लेकिन उन्हें उनके साथ एक नहीं समझना चाहिये। जैसा कि सर जान वुड्राफ अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "सर्पेन्ट पावर" में मन्तव्य प्रकट करते हुए कहते हैं, कि ये "पद्म" या चक्र अत्यन्त सूक्ष्म केन्द्र हैं जो रीढ़ की हड्डी के निकट स्थित विभिन्न स्थानों, स्नायु समूहों, ग्रन्थियों, शिराओं, धमनियों तथा उन विभिन्न प्रदेशों में स्थित शारीरिक अंगों को नियंत्रित और उज्जीवित करते हैं।

चक्र अथवा चेतना के केन्द्र :

यदि हम स्थूल शरीर को परिव्याप्त करने वाले सूक्ष्म शरीर पर मन को एकाग्र करें तो हमें अपने मानसिक एवं भावनात्मक स्वभाव की स्पष्ट अवधारणा हो सकेगी, और हम अपने भावनात्मक स्वभाव को ही नहीं बल्कि इन्द्रियों और स्थूल अंगों को भी नियंत्रित करना सीख सकेंगे। हमारे आचार्यों का कथन है कि जिस प्रकार हमारी भौतिक देह के अज्ञात या छुपे हुए अंग तथा गतिविधियाँ हैं, जिनके बारे में हमें बोध नहीं है, उसी प्रकार मन का अवचेतन और अतिचेतन स्तर भी है। हमारी बहुत सी गहरी बद्धमूल इच्छाएँ और वासनाएँ अचेतन में पड़ी रहती हैं। आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने के लिये उन्हें खोजकर निर्मूल करना होगा। अतिचेतन स्तर आध्यात्मिक अनुभूति तथा आनन्द का स्तर है।

कारण; सूक्ष्म और स्थूल शरीर के बहुत से मिलन बिन्दु हैं। ये ही पूर्वोल्लिखित चक्र हैं जो मेरुदंड के निकट मस्तक से लेकर मेरुदंड के निम्न भाग तक स्थित हैं। आत्मा, मन और देह, इन मिलन-स्थलों पर मिलते तथा एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इन तीनों शरीरों के बीच जानकारी इन चक्रों से होकर आती जाती है। लेकिन सामान्य लोगों में नीचे के तीन चक्र ही सक्रिय रहते हैं, और ऊपर वाले प्रसुप्त पड़े रहते हैं। विशेष यौगिक साधनाओं से ये उच्चतर केन्द्र प्रबुद्ध किये जा सकते हैं, और प्रत्येक केन्द्र सक्रिय होने पर एक विशेष प्रकार की चेतना प्रकट करता है। देह और मन के बीच इस सम्बन्ध के कारण ये एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। हम जानते हैं कि हमारे विचार और भावनाएँ देह को प्रभावित ही नहीं करते बल्कि उसे रूपान्तरित भी कर सकते हैं।

स्वार्थ पर पाशविक विचार और भावनाएँ मानव के पाशविक जीवन से सम्बन्धित चेतना के निम्न केन्द्रों को प्रभावित करते हैं। उच्चतर विचार और भावनों की प्रतिक्रिया उच्च केन्द्रों पर होती है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, हममें से प्रत्येक में तीन विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं: सामाजिक, राजसिक और सात्विक। उच्चतर जीवन के लिये संघर्ष कठिन आलस्य और विषय-भोग की स्थिति तमस् की अवस्था है। जीवन के उच्चतर और निम्नतर स्तरों के बीच संघर्ष की अवस्था रजस् की अवस्था है। तमस् और रजस् का सम्बन्ध निम्न चक्रों से रहता है। उच्चतर चक्र सत्व से सम्बन्धित होते हैं। सत्त्व में उच्चतर स्वभाव अथवा चेतना का प्रभुत्व होता है, लेकिन अशुभ पूरी तरह रूपान्तरित नहीं हो जाता। अचेतन मन में अशुभ के बीज पड़े रहते हैं, उन्हें निर्मूल नहीं किया जा सकता। लेकिन आध्यात्मिक अनुभूति के प्रकाश से उन्हें भस्म किया जा सकता है।

सत्त्व की अवस्था में ही सुषुम्ना सक्रिय हो सकती है। व्यक्तित्व में कार्यरत मानसिक शक्तियों का सामंजस्यपूर्ण होना चाहिये। जब मन अत्यधिक क्रियाशील अथवा चचल होवे तो निश्चित जानो कि हमारी बहुत सी मानसिक शक्ति दूसरी दिशा में प्रवाहित हो रही है। जब हम अपने को अत्यधिक क्रियाशील' चंचल, क्रुद्ध, उदास अथवा बहुत-प्रमोदकारी होने देते हैं, तब हम अपनी बहुत सी मानसिक शक्ति का अपव्यय करते हैं। कुण्डलिनि जागरण इतना आसान नहीं है, जितना लोग सोचते हैं। उसके लिये महान इच्छा शक्ति और अनुशासन आवश्यक हैं। प्रारंभ में केवल इच्छा शक्ति सहायता से मानसिक शक्ति की सुषुम्ना से प्रवाहित करना कठिन है।

अतएव हमें ईश्वर के रूप का हृदय चक्र में ध्यान करने को कहा जाता है। हम भगवत् भक्ति की सहायता से मन को हृदय में एकाग्र करने का प्रयत्न करते हैं। शक्ति के सभी प्रकार के अपव्यय को रोका जाता है, और हृदय हमारी चेतना का केन्द्र बन जाता है। ऐसा करने पर भगवत् कृपा से कुण्डलिनी जाग्रत होती है। प्रारम्भ में हम पद्म, ज्योति इष्ट के रूप आदि की कल्पना से प्रारंभ करते हैं, लेकिन आध्यात्मिक चेतना के जाग्रत होने पर इन कल्पनाओं में नीहित सत्य का साक्षात्कार होता है। तब हमें पता चलता है कि हमारी कल्पना की वस्तुएँ वास्तविक हैं।

जब तक वासना का बीज, पूर्व अनुभवों के संस्कार मन में विद्यमान हैं, तब तक आध्यात्मिक अनुभूति स्थायी नहीं हो सकती। प्रारंभ में हम केवल कुछ झलकें प्राप्त करते हैं। लेकिन प्रकाश की प्रत्येक क्षुद्र किरण कुछ संस्कारों को भस्म कर देती है। इस प्रकार वासनाओं के अधिकांश बीजों के नष्ट होने पर ही निर्विकल्प समाधि नामक आध्यात्मिक चेतना की उच्चतम अवस्था की उपलब्धि हो सकती है। आंशिक अनुभूति पर, अस्थायी आध्यात्मिक दर्शन, यदा-कदा होने वाली भाववस्था चाहे वे अपने आप में कितनी ही अच्छी क्यों न हों, हमें उच्चतम् चरम पूर्णता या धन्यता प्रदान नहीं कर सकती। निम्न स्तरों पर विचरण करने तक हम कभी सुरक्षित नहीं हैं।

एकमात्र आध्यात्मिक अनुभूति से ही भगवान् और आत्मा हमारे लिये यथार्थ हो सकते हैं। दृश्य जगत् के पीछे स्थित सत्ता का अनुसंधान धर्म का लक्ष्य है। हम सामान्यतया अनेक बाह्य वस्तुओं पर निर्भर करते हैं, लेकिन केवल भगवान पर निर्भर नहीं होते जो एकमात्र सत्य है। हमारे

लिये असत्य वस्तुएँ सत्य हो गई हैं तथा हमने सत्य वस्तु को असत्य बना दिया है। सत्य को जानने की शक्ति हममें प्रसुप्त है। हमें उस शक्ति को उद्‌बुद्ध करना है। प्रत्येक चक्र पर हमें एक नयी अनुभूति होती है, सत्य के नये पक्ष का ज्ञान होता है। हृदय चक्र के प्रबुद्ध होने पर व्यक्ति को स्वयं का, देह और विचारों से पृथक, चेतना के एक ज्योतिर्मय विन्दु की तरह, एक जीवात्मा के रूप में, अनुभव होता है। कुण्डलिनि के भ्रूमध्य में पहुँचने पर साधक को यह अनुभूति होती है कि जीवात्मा परमात्मा का अंश है, तथा आत्मा महत् आत्मा का अंश है। अधिकांश लोग इस अवस्था के आगे नहीं जा सकते।

सर्प के साथ खिलवाड़ मत करो :

इस विषय में सभी साधकों को एक बात का ध्यान रखना चाहिये। शारीरिक और मानसिक पवित्रता के बिना साधना करने वाले लोग आध्यात्मिक दृष्टि से अपनी शक्ति को व्यर्थ गंवा ही नहीं रहे हैं, बल्कि अत्यधिक शक्ति के संचय का खतरा भी मोल ले रहे हैं। क्योंकि वह शक्ति सांसारिक दिशा में प्रवाहित होकर काम-जीवन सहित उनके सांसारिक जीवन को प्रबलतर बना सकती है, और इस तरह उनकी महान हानि कर सकती है। श्रीरामकृष्ण द्वारा कथित उस किसान की कथा को याद करो, जिसने अपने खेत को सींचने तथा अपनी फसल तक पानी पहुँचाने के लिये कठोर परिश्रम किया, लेकिन उसे बाद में पता चला कि जल चूहों के द्वारा बनाये गये छिद्रों से बह गया है। (श्रीरामकृष्ण वचनामृत) तात्पर्य यह है कि संसारी व्यक्ति में सांसारिक इच्छाएँ वे छेद सदृश हैं, जिनसे शक्ति सांसारिक दिशा में बह जाती है।

स्विटजरलेण्ड में रहते समय एक बार मैं एक प्रसिद्ध मनोविज्ञ से मिलने गया। उसके अनेक शिष्य थे, जिन्हें वह योग सिखाता था। मैंने उनकी पत्नी को "कुण्डलिनी शक्ति", का चित्र बनाते देखा और उससे पूछा, "सर्प से खिलवाड़ करना क्या खतरनाक नहीं है?" उसने हंसते हुए कहा, "अरे, नहीं, स्वामीजी, लोग इसे गंभीरता से नहीं लेते।" लेकिन कभी-कभी कुछ लोग इसे गम्भीरता से ग्रहण करते हैं और चित्त शुद्धि के बिना कुण्डलिनी जागरण का प्रयत्न करते हैं। पर्याप्त पवित्रता के बिना एकाग्रता का अभ्यास खतरनाक है। एकाग्रता के द्वारा वर्धित शक्ति यदि आध्यात्मिक दिशा में प्रवाहित न हो सके, तो, बहिर्मुखी व्यक्ति में वह किसी प्रबल वासना के रूप में बाहर प्रकाशित होकर उसकी और दूसरों की हानि कर सकती है। अन्तर्मुखी व्यक्ति में संचित शक्ति बाहर अभिव्यक्त न भी होवे। ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति में एक भयानक मानसिक धूर्णिबात का निर्माण कर उसके स्नायुओं और मन को झझकोर कर उसे पूरी तरह मग्न कर सकती है।

कुछ लोगों में ध्यान द्वारा मन के आलोड़ित होने पर उसमें छुपी सभी शुभ और अशुभ बातें बड़े वेग से सतह पर आकर शारीरिक और मानसिक पतन कर सकती हैं। 'सर्प' के साथ खिलवाड़ करने के इच्छुक अपवित्रात्मा लोग सदा कष्ट पाते हैं। कुछ और दूसरे लोगों में संचित शक्ति दूरदर्शन, मन की बात जानना, आदि क्षुद्र सिद्धियों के रूप में अभिव्यक्त होता है, और ये शक्तियाँ उनलोगों को अहंकारी किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से दिवालिया बना देती हैं। कुछ अन्य लोगों में प्रसुप्त शक्ति का आंशिक जागरण होता है। आध्यात्मिक शक्ति एक उच्चतर केन्द्र तक उठती है, लेकिन पुनः नीचे गिरती है, जिसके भयानक परिणाम होते हैं और सांसारिक इच्छाएँ उत्तेजित हो जाती है। लेकिन जप, ध्यान और प्रार्थना के अभ्यास के साथ नैतिक अनुशासन का पालन

करने वाले निष्ठावान साधक के लिये भय का किंचित मात्र भी कारण नहीं है। उनके लिये आध्यात्मिक जीवन पूरी तरह निरापद है।

आध्यात्मिक विकास एक सा नहीं होता :

एक कठिन समस्या का सामना प्रत्येक साधक को करना पड़ता है, और वह यह है कि साधना बिरले ही एक समान होती है। आध्यात्मिक विकास सीधी लकीर में नहीं होता। एक उच्चतर केन्द्र में पहुँच कर साधक पाता है कि मार्ग बन्द है। वह उस केन्द्र पर अटक जाता है, और उसकी शक्ति दूसरी दिशा में प्रवाहित होने लगती है। इसमें से पुन: मार्ग पाने में उसे लंबा समय लग सकता है। कभी-कभी साधक बिना प्रगति किये, एक ही स्थान पर बार-बार घूमता रहता है। महान ईसाई योगी-सन्त जॉन आफ द क्रॉस द्वारा आत्मा का अन्धेरी रात्री (Dark Night of the Soul) के रूप में वर्णित ये 'शुष्क' काल सभी साधकों के जीवन में प्राय: अपरिहार्य रूप से उपस्थित होते हैं। लेकिन नैतिक पथ का निष्ठापूर्वक अनुसरण करने से उनकी तीव्रता और काल कम किया जा सकता है। मन की पवित्रता, कठोर नियमितता और भक्ति से एकरस आध्यात्मिक प्रगति सुनिश्चित हो जाती है।

कुण्डलिनी जागरण का वर्णन सरल और आसान प्रतीत होता है। लेकिन वास्तव में वह अत्यधिक कठिन होता है। जैसा कि गीता में कहा गया है (भगवद् गीता-७, ३) इसके लिये प्रयत्नशील सहस्त्र व्यक्तियों में संभवत: केवल एक का ही जागरण हो पाता है। लेकिन हताश होने की कई आवश्यकता नहीं है। जिस तरह से लोग जीवन यापन करते हैं, उसे देखते हुए यह अच्छा ही है कि उनकी कुण्डलिनी बहुत धीरे जाग्रत होती है, अथवा जाग्रत होती ही नहीं। अधिकांश लोग इसके जागरण के लिये बिल्कुल तैयार नहीं होते। वे, उससे पैदा होने वाली महान प्रतिक्रियाओं को सहन नहीं कर सकता। वस्तुत: आध्यात्मिक जीवन के प्रारंभ में कुण्डलिनी को भूलकर केवल भगवान का ही स्मरण करना चाहिये। अपनी समस्त शक्ति और मनोयोग अपने इष्ट के प्रति प्रेम में लगाओ। कुण्डलिनी की बात उनपर छोड़ दो। वे तुम्हारे आध्यात्मिक कल्याण की चिन्ता करेंगे। भगवान् उचित समय पर तुम्हारा आध्यात्मिक जागरण करेंगे।

जैसा कि मैं बार-बार कह चुका हूँ, कर्म, ज्ञान, और भक्ति के समन्वय के मार्ग का अनुसरण करना श्रेयस्कर है। ध्यान के साथ-साथ निष्काम कर्म करते जाओ। इससे मन शुद्ध और बलवान होता है। आत्मनिरीक्षण करो और मन को शान्त और निर्लिप्त बनाओ इसके बाद का काम जप से हो जायेगा। उचित पद्धति से किया गया जप आन्तरिक समरसता पैदा करता है, जो सुषुम्ना को गतिशील करती हुई उसमें प्रवाहित होती है।

कुण्डलिनी जागरण का सर्वश्रेष्ठ उपाय :

हमारा आध्यात्मिक पथ, हिन्दू, बौद्ध, ईसाई —अथवा सूफी, कोई भी क्यों न हो, हम सभी को जिन तीन अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है, वे हैं, शुद्धिकरण, ध्यान और ईश्वर अथवा भगवान् सत्ता की अनुभूति। यहाँ एक प्रश्न उठता है: आध्यात्मिक चेतना के जागरण के लिये ध्यान का प्रारंभ कैसे करे ? हममें से एक ने हमारे अध्यात्म-गुरु स्वामी ब्रह्मानन्द से प्रश्न किया था "महाराज, कुण्डलिनी, अथवा प्रसुप्त आध्यात्मिक चेतना का जागरण कैसे करते हैं? इसके उत्तर में स्वामी ब्रह्मानन्द ने कहा: कोई-कोई कहते हैं, उसकी एक विशेष साधना है, जिसके द्वारा वह जागृत होती है। मेरा विश्वास है कि जप-ध्यान द्वारा ही जागृत होती है। कलियुग

में जप-ध्यान ही श्रेष्ठ है। जप के समान सहज साधन और नहीं है। जप के साथ-साथ ध्यान करना चाहिये।" (ध्यान, धर्म तथा साधना, रामकृष्ण मठ, तृतीय संस्करण, १९९२, पृ० ८६)

भगवान् की पिता, माता, ज्योति-स्वरूप, आदि विभिन्न रूपों में धारणा की जा सकती है। हृदय को अपनी चेतना का केन्द्र बनाकर परमात्मा का वहाँ पर किसी भी रूप में चिन्तन करो जो तुम्हें रुचिकर लगे। भगवन्नाम अथवा शास्त्रांश का उसके द्वारा प्रतिपादित ईश्वरीय रूप का चिन्तन करते हुए आवृत्ति करो। यह एक सरल ध्यान पद्धति है, लेकिन बाद में वह उस ध्यान तक ले जाती है, जो जीवात्मा और परमात्मा का मिलन करने में सहायक होता है।

भगवन्नाम और भगवच्चिन्तन में महान शक्ति है। भगवन्नाम का जप करते समय तथा परमात्मा का ध्यान करते समय ऐसा अनुभव करना चाहिये कि भगवन्नाम तथा चिन्तन देह, इन्द्रियों, मन, और अहंकार को पवित्र से पवित्रतर करते जा रहे हैं। तीव्रता से ऐसा करने पर श्वास-प्रश्वास सन्तुलित, प्राण समरस, मन शुद्ध और शान्त तथा अहंकार विराट-केन्द्रित अथवा व्यापक हो जाता है। इसके फलस्वरूप क्रमशः आध्यात्मिक विकास होता है। ध्यान सह भगवन्नाम का जप एक दिव्य संगीत पैदा करता है जो आध्यात्मिक मार्गों को साफ करता है, प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करता है, तथा उसे उज्जीवित उच्चतर केन्द्रों से प्रवाहित करता है।

कुण्डलिनी-आरोहण का क्रम

उच्च से उच्चतर आरोहण करते हुए चेतना ऊर्ध्वाधर तथा समस्तर, दोनों ही दिशाओं में प्रगति करती है। जीवात्मा और परमात्मा एक दूसरे के निकट आते-जाते हैं। उपनिषद् में इसी के प्रतीक रूप में एक वृक्ष की ऊपरी तथा नीची शाखाओं पर रहने वाले सुन्दर पंखों वाले दो पक्षियों का रूपक प्रस्तुत किया गया है। (मुण्डकोपनिषद् ३,१, १-३; श्वेताश्वतरोपनिषद् ४, ६-७) नीचे वाला पक्षी ऊपर की ओर देखता है और अन्त में दोनों के एकत्व की अनुभूति करता है। योग की भाषा में नीचे वाला पक्षी मूलाधार में बैठा जीवात्मा है। ऊपर वाला पक्षी मस्तिष्क में स्थित सहस्रार पद्म में बैठा परमात्मा है। व्यष्टि-चेतना या जीवात्मा की चेतना सुषुम्ना रुपी आध्यात्मिक मार्ग से प्रवाहित होती हुई उच्चतम बिन्दु तक पहुँचकर परमात्मा के साथ अपना एकत्व अनुभव करती है। यह जीवात्मा का उच्चतम आध्यात्मिक अवस्था और अनुभूति तक का आरोहण है। अधिकांश जीव इस अवस्था से पुनः दृश्य जगत् में लौट कर वापस नहीं आते। लेकिन जैसा श्रीरामकृष्ण कहते हैं, कुछ ऋषि इस आध्यात्मिक उच्चावस्था से स्वेच्छा से लोक-कल्याण के लिये नीचे आते हैं।

आइये, अब हम देखें कि प्रत्येक चक्र या केन्द्र से सम्बन्धित अनुभूति के विषय में इस विषय के सबसे महान आधुनिक प्रमाण पुरुष श्रीरामकृष्ण का अपनी ही अनुभूतियों के आधार पर क्या कथन है "बड़ी साधना करके के बाद कहीं कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है। नड़िया तीन हैं: इडा, पिंगला और सुषुम्ना। सुषुम्ना के भीतर छः पद्म हैं। सबसे नीचे वाले पद्म को मूलाधार कहते हैं। उससे ऊपर स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। इन्हें षट्चक्र कहते हैं।

"कुण्डलिनी शक्ति जब जागती है तब वह मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर इन सब पद्मों को क्रमशः पार करती हुई हृदय के अनाहत पद्म में आकार विश्राम करती है। जब लिंग, गुह्य और नाभि से मन हट जाता है, तब ज्योति के

दर्शन होते हैं। साधक आश्चर्यचकित होकर ज्योति देखता है, और कहता है, "यह क्या, यह क्या ?"

"छहों चक्रों का भेद हो जाने पर कुण्डलिनी सहस्त्रार पद्म में पहुँच जाती है; तब समाधि होती है !" "वेदों के मत से ये सब चक्र एक-एक भूमि हैं। इस तरह सात भूमियाँ हैं। हृदय चौथी भूमि है। हृदय वाले अनाहत पद्म के बाहर दल हैं।

"विशुद्ध चक्र पाँचवीं भूमि है। जब मन यहाँ आता है तब केवल ईश्वरी प्रसंग कहने और सुनने के लिये प्राण व्याकुल होते हैं। इस चक्र का स्थान है। वह पद्म सोलह दलों का है। जिसका मन इस चक्र पर आया है, उसके सामने अगर विषय की बातें—कामिनी और कांचन की बातें होती हैं, तो उसे बड़ा कष्ट होता है। उस तरह की बातें सुनकर वहाँ से उठ जाता है।"

"इसके बाद छठी भूमि है आज्ञा चक्र यह दो दलों का है। कुण्डलिनी जब यहाँ पहुँचती है, तब ईश्वरी रूप के दर्शन होते हैं। परन्तु फिर भी कुछ ओट रह जाती है, जैसे लालटेन के भीतर की बत्ती, जान तो पड़ता है कि हम बत्ती पकड़ सकते हैं. परन्तु शीशे के भीतर है—एक पर्दा है, इसलियेछुई नहीं जाती।

"इससे आगे चलकर सातवीं भूमि है सहस्त्रार पद्म। कुण्डलिनी के वहाँ जाने पर समाधि होती है। सहस्त्रार में सच्चिदानन्द शिव हैं, वे शक्ति के साथ मिलित हो जाते हैं। शिव और शक्ति का मेल।"

"सहस्त्रार में मन के आने पर निर्बीज समाधि होती है। तब बाह्य ज्ञान कुछ भी नहीं रह जाता। मुख में दूध डालने ससे दूध गिर जाता है। इस अवस्था में रहने पर इक्कीस दिन में मृत्यु हो जाती है। काले पानी में जाने पर जहाज फिर नहीं लौटता।"

"ईश्वर कोटि और अवतारी पुरुष ही इस अवस्था से उतर सकते हैं। वे भक्ति और भक्त लेकर रहते हैं, इसीलिये उतर सकते हैं। ईश्वर उनके भीतर

ये पूर्ण ज्ञानी महापुरुष एक ही आत्मा को सब में प्रकाशित देखते हैं और सभी लोगों के प्रति प्रेम और करुणा से पूर्ण होते हैं।

ये महापुरुष ही अतिचेतन का सन्देश हम तक पहुँचाते हैं। उनका सारा जीवन लोगों को आध्यात्मिक मार्गदर्शन में व्यतीत होता है। सभी बुराईयों और स्वार्थ से शून्य, परमात्मा में नित्य मग्न, ये महापुरुष जगत् कल्याण के लिये आदर्श जीवन यापन करते हैं। वे मानव की आध्यात्मिक नियति के, मानवात्मा के दिव्यीकरण के साक्षी और प्रमाण स्वरूप होते हैं। हमें उनके पद-चिह्नों का अनुसरण करना चाहिये।

❑

हमारी वैज्ञानिक शक्ति ने हमारी आध्यात्मिक शक्ति को पीछे छोड़ दिया है। हमने प्रक्षेपास्त्रों का सही मार्ग-दर्शन किया है परन्तु लोगों को पथ भ्रान्त कर बहकाया है।

—मार्टिन लूथर किंग

स्वतंत्रता और सर्वधर्म समभाव

— स्वामी आत्मानन्द

जिस दिन से हम स्वतन्त्र हुए हैं, तब से राष्ट्रीय एकता अधिकाधिक चर्चा का विषय रही है। गुलामी के दिनों में देश की स्वतन्त्रता की भावना ही हमारी राष्ट्रीय एकता का मूल स्रोत थी। अपने कन्धों पर से विदेशी शासन का जुआ उतार फेंकने की तमन्ना में ही हमारे तन-मन की सब क्रियाएँ केन्द्रित थीं। परन्तु जब १९४७ में वह लक्ष्य प्राप्त हो गया, तब अनेक प्रकार की विध्वंसक और विघटनकारी ताकतें इस देश में उभरने लगीं, जो आज हमारे देश की अखण्डता के लिए बहुत बड़ा खतरा बन गयी हैं। भाषा, जाति, समाज, सम्प्रदाय, राज्य, धर्म—ये प्रायः कुछ ऐसे मसले हैं, जो विघटनकारी शक्तियों को उभार देते हैं। कभी-कभी छोटे मसले को भी लेकर—जैसे किसी एक नगर विशेष के बँटवारे को लेकर ही—राज्यों में विवाद शुरू हो जाता है, जो सुलझ न पानेवाली प्रतिक्रियाओं की गुत्थी बनकर रह जाता है और राष्ट्र की शान्ति के लिए खतरा उत्पन्न कर देता है।

प्रश्न है कि संकीर्ण स्वार्थपूर्ण लिप्सा पर आधारित इन विघटनकारी ताकतों का प्रतिकार कैसे किया जाय? यदि हम अपने क्षुद्र भौगोलिक, भाषायी एवं साम्प्रदायिक स्वार्थों का वृहत्तर समाज के हित में परित्याग न करें, तो राष्ट्रीय एकता क्योंकर चरितार्थ होगी? राष्ट्रीय एकता के लिए यह आवश्यक है कि अन्य भाषा-भाषी, अन्य प्रान्त या धर्म के लोगों के प्रति प्रेम और आदर का भाव बचपन से ही भरा जाय, जिससे समय पाकर उसकी जड़ें मजबूत होती जायँ। यहीं पर स्वामी विवेकानन्द का व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है। न केवल वे राष्ट्रीय एकता के ज्वलन्त उदाहरण स्वरूप थे, बल्कि वे विश्वमानव थे। ऐसे समय में जब हम राष्ट्रीय एकता के लिए परस्पर प्रेम और आदर की बातें कर रहे हैं, उनके उन उद्गारों का स्मरण करना स्वाभाविक है, जिन्हें जवाहरलाल नेहरू ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' में उद्धरित किया है—

"मैं पूरी तरह से आश्वस्त हूँ कि कोई भी व्यक्ति या देश अपने आप को दूसरों से अलग रखकर जीवित नहीं रख सकता। जब भी कोई थोथे बड़प्पन, सिद्धान्त अथवा साधुता के नाम पर ऐसा करता है तो उसका परिणाम उसके लिए घातक होता है। वास्तव में हमारा विश्व के अन्य देशों से कटकर अलग रहना ही हमारे पतन का कारण बना और इसीलिए इसका एकमात्र निदान फिर से विश्व की उस धारा से जुड़ने में ही है। गति ही जीवन का लक्षण है।"

यद्यपि स्वामी विवेकानन्द के मुख से निःसृत ये शब्द देश की कूपमण्डूकता वाली वृत्ति के सन्दर्भ में थे, पर यही वह कारण भी है जिससे प्रेरित हो हम अपने तथाकथित साम्प्रदायिक स्वार्थों की पूर्ति के निमित्त छोटे-छोटे दायरों में बँटकर आपस में लड़ रहे हैं। स्वामी जी भारतीय जनों की एकता में विश्वास रखते थे। उनका विश्वास था कि हिन्दू, मुसलमान और विभिन्न धर्मावलम्बी लोग हमारी संस्कृति की समृद्धि के लिए मोजैक पत्थर के विभिन्न दानों की भाँति है। उनका यह भी विश्वास था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों को परस्पर एक-दूसरे की विशिष्टताओं को सीखना होगा, जिससे वे न केवल अच्छे हिन्दू अथवा अच्छे मुसलमान बन सकें, बल्कि वे अच्छे इन्सान बन सकें। मनुष्य-निर्माण उनका धर्म था। उन्होंने अपने देशवासियों का क्षुद्र स्वार्थ और विद्वेष को त्याग ऊपर उठकर मनुष्य की इस पूर्णता को

हासिल करने का आह्वान किया था तथा इसी परिप्रेक्ष्य में उन्होंने हिन्दुओं को संकीर्ण जातीयता तथा साम्प्रदायिकता के ऊपर उठने तथा मानव में निहित पूर्णता और दिव्यता को देखने की प्रेरणा दी थी। मनुष्य-निर्माण रूपी इस धर्म में सहायक के रूप में उन्होंने लोकतन्त्र की आधुनिक विचार-धारा और प्रणाली पर बल दिया, जो व्यक्ति की स्वाधीनता, समानता और पवित्रता में विश्वास रखती है :

लोकतन्त्र की ताकत उसकी जनता में निहित है। भारत का लोकतन्त्र हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी और अन्यान्य धर्मावलम्बी लोगों को ऐसा नागरिक बनाना चाहता है, जो सार्वभौमिक और मानवीय मूल्यों के प्रति आस्थावान रहे। यही महत् प्रयास विश्व के महान धर्मों से प्रचुर जीवनी-शक्ति पा सकता है। वास्तव में राजनीतिक अथवा आर्थिक लोकतन्त्र भी बिना मार्गदर्शन और प्रेरणा के, जो कि एकमात्र धर्म से मिल सकती है, अधिक समय तक टिका नहीं रह सकता। यही नहीं, वह गलत दिशा में भी प्रवृत्त हो सकता है। पर यह प्रेरणा धर्म के मूल सत्यों से प्राप्त करनी होगी, न कि उसके सैद्धान्तिक अथवा साम्प्रदायिक रूप से। लोकतन्त्र को नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के स्तर तक उठाने का कार्य उन सबकी बाट जोह रहा है, जो राष्ट्रीय एकता के लिए चेष्टारत हैं।

भारतीय जनता की सामाजिक संरचना का प्रभाव देश के सामाजिक कानूनों और राजनीतिक स्थिति पर पड़ना स्वाभाविक है। इसलिए उसका स्वाभाविक रुझान एकता की ओर ही होगा। अल्पसंख्यकों की समस्या निस्सन्देह एक प्रबल मुद्दा है, परन्तु यदि आपसी प्रेम और सद्भाव के लिए निष्ठापूर्वक प्रयास किया जाय, तो बाह्य विरोधाभास के बावजूद अन्ततोगत्वा एकता की उपलब्धि होगी। राजनैतिक आवश्यकता तथा जोड़-तोड़ के लिए गठित समिति और समझौतों से मिली एकता की तुलना में यह अधिक स्थायी और उच्च स्तर की होगी।

राजनीति का दबाव हमें टुकड़े-टुकड़े कर दे रहा है पर परस्पर प्रेम और सद्भाव पर आधारित सामाजिक चेतना हमें जोड़ सकती है। सामाजिक तथा आर्थिक शक्ति से समृद्ध संस्कृति तथा विश्व स्थिति की यथार्थता इस प्रक्रिया में और तेजी ला सकती है। आज देश में आवश्यकता है कि हम एकता के इस लक्ष्य को चुपचाप तथा दृढ़भाव से प्राप्त करने का प्रयास करें। हमें यह अनुभव करना होगा कि राजनीति सामाजिक शक्ति का खिलौना मात्र है। सामाजिक चेतना में राजनीति की अपेक्षा कहीं अधिक गहरी पैठ होती है। समाज को संगठित करने में सामाजिक शक्तियों के इस शुभ प्रयास में देश को स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व और सन्देशों से मार्गदर्शन तथा प्रेरणा मिल सकती है।

लोकतन्त्र के प्रभाव से हिन्दू समाज की असमानता दूर होगी, जो उसके कदमों को संतुलित करने में सहायक होगी। इतिहास के पृष्ठों को पलटकर देखने से सिख अलगाववादी समझ सकता है कि जिस समाज की रक्षा के लिए वह अस्तित्व में आया, उसी समाज के सदस्यों की हत्या करके वह अपने ही देश के बृहत् हितों को नष्ट कर रहा है और वह देश की हजार साल की गुलामी के लिए जिम्मेदार विध्वंसक ताकतों के हाथ में खेल रहा है। ईसा का अपने पड़ोसी को प्रेम और सहायता करने का उपदेश धर्मान्तरण करने और अपने अनुनाइयों में गैर-राष्ट्रीय भावना भरने का समानार्थी नहीं हो सकता। संस्कृति एवं आर्थिक प्रगति से सामान्य औसत मुसलमान के साम्प्रदायिकता तथा धर्मान्धता के प्रचार की लहर में बह

जाने की सम्भावना कम होगी और वह अपने उन मूल्यों को अधिकाधिक स्वीकारने लगेगा जो सार्वभौमिक और मनावीय हैं। आज के भारतीय मुसलमान को सहिष्णु इस्लाम के उपदेशों के व्यवहार और प्रचार की आवश्यकता है। संक्षेप में, आज इस्लामी लोकतन्त्र को मानवीय लोकतन्त्र में बदलना होगा।

भारत का इतिहास और भारत के हिन्दू और मुसलमान समाज का चरित्र कुछ और ही होता यदि इस्लाम भारत में मित्र बनकर शान्ति से आता। उस स्थिति में वह ऊँच-नीच की भावना से मुक्त समानता का सन्देश देकर हिन्दू समाज रूपी भवन की गर्द को साफ कर देता—हिन्दूधर्म सहर्ष उसे स्वीकारता और बदले में उसे सहिष्णु दृष्टिकोण प्रदान करता। परन्तु सच्चाई तो यह है कि इस्लाम बहुलांश में भारत में सैनिक आक्रान्ताओं द्वारा लाया गया जो अपने को इस्लाम का अनुयायी तो कहते थे, पर आचरण में वे अपने देश की बर्बरता ही दर्शाते थे। भारत को रौंदकर हिन्दूधर्म को नेस्तनाबूद कर देने की उन लोगों की चेष्टा देख हिन्दू के लिये इस्लाम आँख की किरकिरी बनकर रह गया। धर्म और संस्कृति के परस्पर सम्बन्धों की गाथा के ये कुछ ऐसे दुःखद ऐतिहासिक पृष्ठ हैं, जिन्होंने कटु परिणामों की सृष्टि की, अन्यथा वे मानव धर्म तथा संस्कृति के लिए उपयोगी और दिव्य फल देनेवाले हो सकते थे।

पर सामाजिक चेतना मानवीय सनक और उन्मादों पर विजय पाती है और यदि हम राष्ट्रीय एकता चाहते हैं तो हमें यह करना होगा। क्या भारतीय इस्लाम और भारतीय ईसाइयत हिन्दुधर्म की भाँति अपने विशिष्ट तत्वों के साथ विश्व के अन्य लोगों के लिए सन्देश लेकर विश्वशक्ति के रूप में नहीं उभर सकते? धर्म भारत की भूमि पर सबसे अच्छी तरह पुष्ट हो सकता है। भारतीय—चाहे हिन्दू हो, या मुसलमान या ईसाई—गहरा धार्मिक होता है। क्षुद्र राजनैतिक लिप्सा से संयुक्त हो धार्मिक भावना अत्यन्त घृणित पाशविकता प्रदर्शित कर सकती है। आध्यात्मिकता और मानव-सेवा की उत्तात भावना से संयुक्त हो यह अत्युच्च दिव्य पक्ष को भी उजागर कर सकती है। अब यह हिन्दू, मुसलमान और ईसाई लोगों पर है कि वे देखें कि उनका धर्म इस दूसरे पक्ष को ही प्रकट करे। एक सामान्य भारतीय मुसलमान यह समझना जरूर सीख ले कि सैनिक आक्रान्ता और धर्मांध लोग मनुष्यों में अपवाद और असामान्य थे, जो इस्लाम के नाम की आड़ में स्वयं की रक्तपिपासा और अहंकार की पूर्ति करते थे।

भारतीय मुसलमान अपने धर्म के सन्तों और फकीरों को अधिक महत्व देना सीखें, जिन्होंने लोगों को खुशियाँ बाँटी और उम्मीदें जगायीं। वे यह न भूलें कि इस्लाम के पैगम्बर मनुष्यों को सावधान करने आये थे, वे लोगों को एकता के सूत्र में बाँधने आये थे। वे आये थे—जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था—मानव समाज के लिए आशीर्बचन बनकर, न कि अभिशाप बनकर। भारतीय ईसाईयों के लिए उचित है कि वे राजनैतिक आवश्यकताओं से उत्पन्न प्रलोभनों से ऊपर उठें। वे यह सीखें कि किस प्रकार वे अपने आप को विदेशी मिशनरियों के हाथों खेलने से बचाव, जो ईसामसीह के नाम पर अलगाववाद सिखाते हैं तथा भारतीय संस्कृति की मूल जड़ को ही काट देना चाहते हैं, जिससे भारतीय ईसाई भारतीय न रह सकें तथा भारत की मिट्टी से अपनी एकात्मता स्थापित न कर सकें। वह दिन भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा जब भारतीय इस्लाम और भारतीय ईसाइयत ऐसे

सन्तों और मनीषियों को जन्म देगी, जो बिना किसी धार्मिक भेदभाव के सब पर अपनी कृपा का वर्षण करेंगे तथा सब लोगों की श्रद्धा अर्जन करेंगे; क्योंकि जीवन्त-धर्म की कसौटी ऐसे सन्तों की उत्पत्ति में है, जो ईश्वर तथा मनुष्य के श्रेष्ठत्व के द्रष्टा होते हैं। राजनीति के साथ अत्यन्त घनिष्ठ तथा दीर्घ सम्बन्ध धर्म की मूल आत्मा को भी नष्ट कर सकता है।

समाज आज अपने नेताओं से मार्गदर्शन चाहता है। नसें अब और अधिक समय तक द्वेष और घृणा के दबाव को सहन नहीं कर सकतीं। आज हमारी मातृभूमि हमारे मतभेदों को दफना देने का आह्वान कर रही है। वह सर्वत्र प्रेम की लहर बहा देने की माँग कर रही है। ऐसे समय आज स्वामी विवेकानन्द द्वारा १० जून १८९८ को अपने मित्र मुहम्मद सरफराज हुसैन को दिया वह पत्र हमारे लिए विशेष चिन्तन और मनन का विषय है, जिसमें उन्होंने लिखा था—

"हम मनुष्य जाति को उस स्थान पर पहुँचाना चाहते हैं, जहाँ न वेद है, न बाइबिल है, न कुरान; परन्तु वेद, बाइबिल और कुरान के समन्वय से ही ऐसा हो सकता है। मनुष्य जाति को यह शिक्षा देनी चाहिये कि सब धर्म, उस धर्म के, उस एकमेवाद्वितीय के भिन्न-भिन्न रूप हैं, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति इन धर्मों में से अपना मनोनुकूल मार्ग चुन सकता है।"

शोक–समाचार

बड़े दुःख के साथ सूचित करना पड़ता है कि सोमवार, दिनांक १० अगस्त, १९९८ को अपराह्न २ बजकर २८ मिनट पर रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के द्वादश महाध्यक्ष पूज्यपाद श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज कलकत्ते में महासमाधि में लीन हो गये। वे ९७ वर्ष के थे। वे एक साथ ही परम शास्त्रज्ञ, महामनीषी, कर्मठ कर्मयोगी एवं सन्त सद्गुरु थे। गत ५ एवं ६ जून १९९८ को बेलुड़ मठ में आयोजित रामकृष्ण विवेकानन्द भाव प्रचार परिषद् के महाधिवेशन को उन्होंने सम्बोधित किया था। कदाचित जन सभा में किया गया उनका यह अन्तिम सम्बोधन था जो जितना ही विचारोत्तेजक, उतना ही प्रेरक था। उनकी इहलीला की समाप्ति से श्रीरामकृष्ण के हजारों भक्त मर्माहत हो उठे। ११ अगस्त को १ बजे दिन में उनका अन्तिम दाह संस्कार बेलुड़ मठ में गंगा तीर पर किया गया। हजारों नर-नारियों ने अश्रुपूरित नेत्रों से उन्हें प्रणाम करते हुए अन्तिम विदाई दी।

एक निवेदन

भगवान श्री रामकृष्णदेव, माँ सारदा तथा स्वामी विवेकानन्द के चरण रेणु से तीर्थीकृत तथा स्वामी विवेकानन्द स्मृतिविजड़ित आकर्षण केन्द्र ज्योति लिंग बाबा वैद्यनाथ की इस पुनीत नगरी देवघर में रामकृष्ण संघ द्वारा परिचालित प्रथम शिक्षण संस्थान रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ की स्थापना सन् 1922 में हुई। भगवान श्री रामकृष्ण देव के अन्यतम पार्षद श्रीमत् स्वामी तुरीयानन्दजी महाराज से अनुप्राणित तथा स्वामी विवेकानन्द के शिक्षादर्शों पर आधारित 75 वर्ष पूर्व प्रारम्भ की गई यह शिक्षण संस्थान आज पूरे भारतवर्ष में विख्यात है। रामकृष्ण संघ के द्वितीय अध्यक्ष परमपूजनीय श्रीमत्स्वामी शिवानन्दजी महाराज ने भविष्यवाणी की थी—'इस विद्यापीठ के माध्यम से भविष्य में बहुत महान कार्य सम्पन्न होगा, इसका भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल है।'

विद्यापीठ के बहुमुखी कर्म-प्रवाह में आर्थिक अवस्था से विपन्न 400 छात्रों के लिए आज 'विवेकानन्द बालकेन्द्र' मुख्य इकाई के रूप में कार्यरत है जिसमें निःशुल्क शैक्षिक तथा क्रीड़ा संबंधी एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था है। इस अनुन्नत वर्ग को ही नवीन भारत का आधार बनाते हुए स्वामीजी ने कहा था—

"एक नवीन भारत निकल पड़े। निकले हल पकड़कर, किसानों की कुटी भेदकर, मछुए, माली, मोची, मेहतरों की झोपड़ियों से। निकल पड़े बनियों की दुकान से, भुजवा के भाड़ से, कारखाने से, हाट से, बाजार से। निकले झाड़ियों से, पहाड़ों—पर्वतों को भेदते हुए।' इस वाणी को मद्देनजर रखते हुए 'सबसे पीछे पड़े हुए, सबसे नीचे दबे हुए' वर्ग को अपने विनम्र भाव से शिक्षित करने के प्रयास में 'विवेकानन्द बाल केन्द्र' अनवरत संलग्न है।

संप्रति इन छात्रों की यथोक्त शिक्षा के लिए एक स्थायी भवन की नितान्त आवश्यकता है जिसकी अनुमानित लागत 10 लाख रुपये है। अतः रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर की ओर से मैं इस महान एवं पवित्र कार्य को सम्पन्न करने के लिए आप उदारचेताओं से सहयोग की महती प्रार्थना करता हूँ। इति।

निवेदक

स्वामी सुवीरानन्द

सचिव

रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर

नोट :—1. रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर के नाम से ही चेक या ड्राफ्ट भेजे जाएँ।

2. रामकृष्ण मिशन को दिया गया दान धारा 80 [G] के अनुसार आयकर मुक्त है।

डाक पंजीयित संख्या - सी.एच.पी.-१४-८३
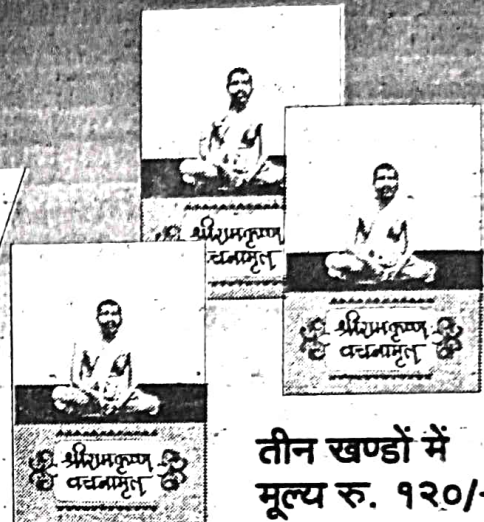
श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं शिवशक्ति प्रिन्टर्स, सैदपुर, पटना-४ में मुद्रित।